रविन्द्रनाथ ठाकुर कृत
गीतांजलि
रूपान्तर – शारदा प्रसाद
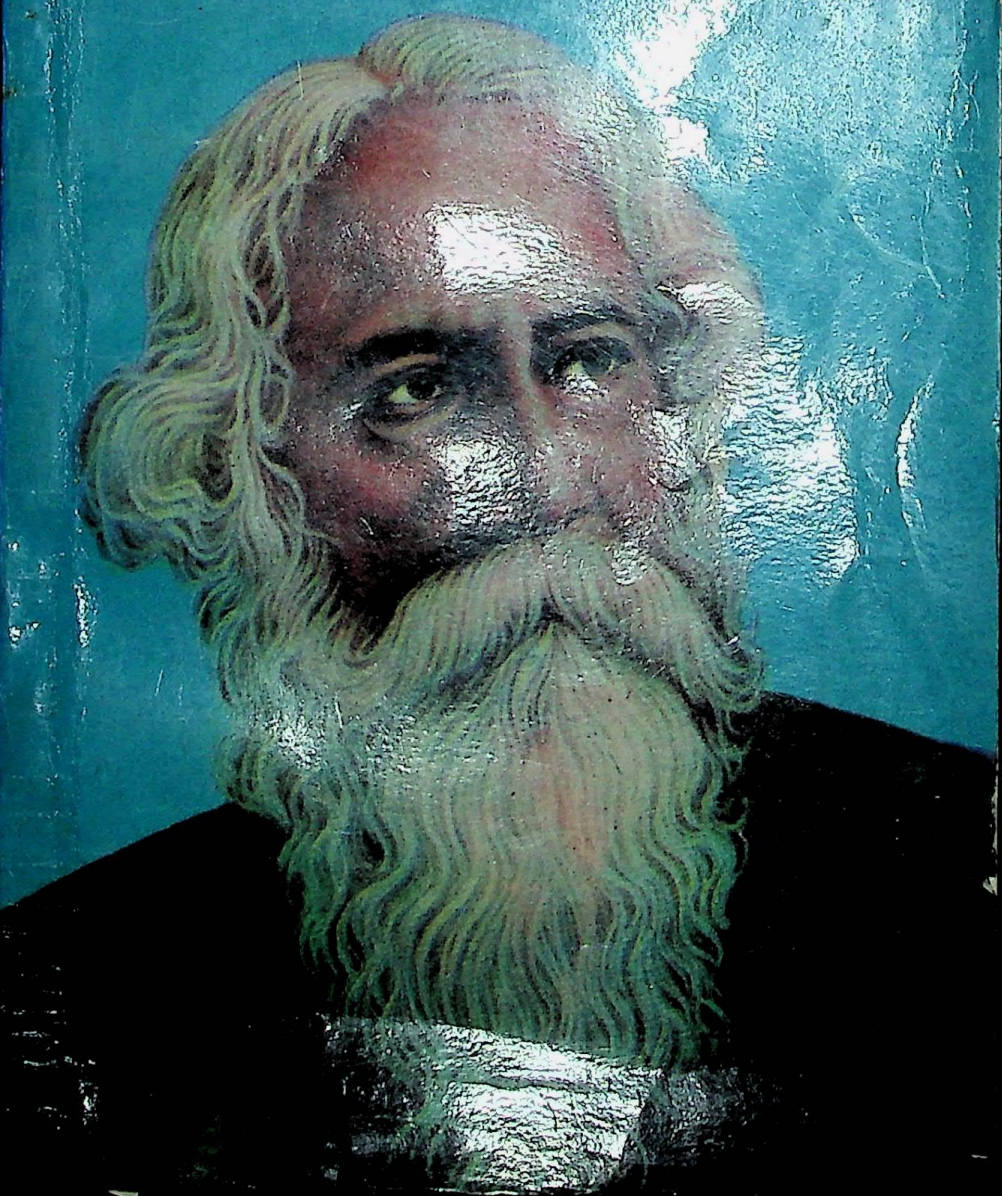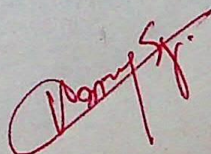
गीतांजलि

(गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नोबेल पुरस्कार से सम्मानित अनूठी काव्यकृति अंग्रेजी गीतांजलि का हिन्दी पद्यात्मक भावानुवाद)

मूल- रवीन्द्रनाथ ठाकुर

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक :
नन्दन प्रकाशन, रानी कटरा, लखनऊ - 226 003.

शारदा प्रसाद मिश्र

संस्करण : 1999

मूल्य : 100/-

मुद्रक :
आर० टी० कम्प्यूटर्स,
रानी कटरा, लखनऊ - 226 003.

गीत क्रम

पृष्ठ सं.

अभिमत

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अमरकृति 'गीतांजलि' का दुनिया की लगभग सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। यह कृति लघु का विराट के साथ, सीमा का असीम के साथ एक शाश्वत संवाद है। यह अद्‌भुत संवाद तब घटित होता है जब अहं का विसर्जन होता है और शिलाखण्ड निर्झर बनता है।

हिन्दी भाषा में भी गुरुदेव की इस कृति के अनेक अनुवाद हुए हैं। प्रस्तुत अनुवाद श्री शारदा प्रसाद मिश्र द्वारा किया गया है जो स्वयं एक कवि और काव्य रसिक हैं। यह अनुवाद छन्दवद्ध पद्यात्मक अनुवाद है, जिसके द्वारा मूल कविता का भाव कुशलता पूर्वक सम्प्रेषित हैं। कविता का अनुवाद एक कठिन व्यापार है। इसका निर्वाह सिद्ध कवि ही कर पाते हैं। यह कार्य शब्दों के स्थान पर उनके पर्यायवाची रखने से पूरा नहीं होता। अनुवादक को अपने शब्दों में मूल की आत्मा उतारनी पड़ती है। श्री शारदा प्रसाद मिश्र ने यह कठिन कार्य सम्पादित करने की कोशिश की है। आशा है हिन्दी संसार अवश्य ही इसका स्वागत करेगा।

प्रो. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

दो शब्द

'गीतांजलि' विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की कालजयी रचना है। इसके अंग्रेजी संस्करण पर उन्हें सन् १६१३ में 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ था। 'गीतांजलि' का अंग्रेजी संस्करण बँगला गीतांजलि से भिन्न है। इसमें बँगला गीतांजलि से ५१, 'गीतिमाल्य' से १७, 'नैवेद्य' से १६, 'खेया' से ११, 'शिशु' से ३ तथा 'चैतालि', 'स्मरण', 'कल्पना', 'उत्सर्ग' और 'अचलायतन' से एक–एक रचना संग्रहीत है। जिस समय कुल १०३ कविताओं का यह संस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय विश्व काव्य के इतिहास में इसे एक अपूर्व घटना माना गया था। प्रख्यात कवि डब्ल्यू. वी. येट्स ने तो यहाँ तक कहा था–

" I have carried the manuscript of these translations about with me for days, reading it in railway trains, or on the top of omnibuses and in restaurants, and I have often had to close lest some stranger would see how much it moved me. These lyrics display in their thought a world I have dreamed of all my life long".

इन अनुवादों की पांडुलिपि को मैं बहुत दिनों तक अपने पास लिए घूमता रहा हूँ, इसे रेलगाड़ियों, अथवा बसों की छत पर और जलपान गृहों में मैंने पढ़ा है और मुझे अक्सर इसे यह सोचकर बंद कर देना पड़ा है, कि कोई अजनबी व्यक्ति यह न जान ले कि इसने मुझे कितना प्रभावित किया है। ये गीत अपनी वैचारिक समृद्धि से एक ऐसे संसार की रचना करते हैं जिसका सपना मैं अपने सारे जीवन में देखता रहा हूँ। 'येट्स' के अतिरिक्त ए.सी. ब्रैडले, एजरा पांउड, रोवेन स्टाइन, एडवर्ड टामसन, जर्मन दार्शनिक ऑपकेत आदि कवियों, कलाकारों और दर्शनिकों ने इस कृति की मुक्त कण्ठ से प्रंशसा की थी। विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ था और सहसा पूरे विश्व में भारत का सम्मान बढ़ गया था। आज भी यह कृति अपने काव्य–वैभव एवं रहस्यदर्शिता में बेजोड़ है।

हमें हार्दिक प्रसन्नता है कि श्री शारदा प्रसाद मिश्र ने 'गीतांजलि' के अंग्रेजी संस्करण के १०३ गीतों का हिन्दी में अत्यन्त मार्मिक अनुवाद प्रस्तुत किया है। कविता का अनुवाद अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। यह एक प्रकार का पुनः सृजन है। इसके लिए आवश्यक है कि अनुवादक अनुभव के उन सघन क्षणों को स्वयं गहराई से महसूस करे जिन्हें जीकर और अपनी संवेदना से दीप्त करके मूल रचनाकार ने काव्य–रूप में मूर्त किया था। जब रवीन्द्र नाथ टैगोर ने कबीर की १०० रचनाओं का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया था तो कहा गया था कि यह अनुवाद इतना पूर्ण है और इतनी गहरी सहानुभूति के साथ लिखा गया है कि लगता है रचनाकार और अनुवादक एक हो गए हैं।

[These Translations have been done so competently and sympathetically that the poet and the translater at times, seem one.]

यही स्थिति श्री शारदा प्रसाद मिश्र की है। अनेक अवसरों पर वे कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनात्मक कल्पना के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने में सफल हुए हैं। एक उदाहरण लें। मूल रचना है–

Yes, I know this is nothing but thy
love, O beloved of my heart. This golden
light that dance upon the leaves, these
idle clouds sailing across the sky, this
passing breeze leaving its coolness upon my forehead.
The morning light has flooded my
eyes. This is thy message to my heart.
Thy face is bent from above. Thy eyes
look down on my eyes, and my hearl
has touched thy feet.

श्री मिश्र जी का अनुवाद देखिए –

हाँ, यह है मालूम मुझे हे प्रियतम मेरे–
और नहीं कुछ बस यह केवल प्यार तुम्हारा।
स्वर्ण राशमियाँ नाच रहीं पत्तों–पत्तों पर,
मेघ निठल्ले उड़ते जाते पार गगन के,
मन्द वायु कर स्पर्श देह शीतल करती है।

निर्झर सा आलोक झर रहा है, प्रभात का,
तैर–तैर जाते जिसमें ये मेरे लोचन,
मेरा हदय तुम्हारा यों संदेश पा रहा।
तेरा मुख मंडल ऊपर से झांक रहा है,
टिके नयन तेरे नीचे मेरे नयनों पर,
और हदय ने मेरे छुआ चरण तेरा है।

कहना न होगा कि मूल रचना की कल्पना भूमि से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने के कारण ही श्री मिश्र जी के अनुवाद में जीवन्तता, सहजता, गतिमयता और सरसता का सन्निवेश हो सका है।

मैं श्री शारदा प्रसाद मिश्र को उनके सफल प्रयास के लिए साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में इसी स्तर की अन्य कृतियों के माध्यम से वे हिन्दी काव्य जगत को समृद्ध करते रहेंगे।

प्रो. रामचन्द्र तिवारी
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी–विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

गीतांजलि के रूपान्तरकार : एक अन्तरंग परिचय

मेरे निकट संबंधी और वरिष्ठ कवि मित्र श्री शारदा प्रसाद मिश्र की कृति 'गीतांजलि' को पढ़ना हिन्दी भाषा में गीतांजलि का सुख प्राप्त करना है। दार्शनिक विषयों और मार्मिक प्रसंगों की सफल अनुदिति उनकी उच्च कोटि की प्रतिभा को प्रकाशित करने में समर्थ है।

एक नैष्ठिक पवित्र परिवार में जन्मे श्री मिश्र को मैं अरसे से जानता हूँ। विज्ञान के विद्यार्थी होने के बावजूद उनकी रुचि कला संस्कृति में है। धर्म के रूढ़ अर्थों में वे भले ही उतने दत्तचित्त न हों पर धर्म का मानवीय रूप उनकी चेतना का महत्वपूर्ण हिस्सा है। वे कुशल शब्द शिल्पी आत्मीय मित्र और मनुष्य की व्यापक हित चिन्ताके प्रति सजग रचनाकार हैं।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर की विश्व विश्रुत रचना का सफल अनुवाद करके मिश्र जी ने सराहनीय कार्य किया हैं। काव्य का अनुवाद प्रायः असंभव सा काम है, न ही अनुवाद पर निकटतम ध्वनियों को झंकृत किया जा सकता है। गीतांजलि की ध्वनियों को हिन्दी की रचनात्मक बुनावट में प्रस्तुत कर कवि ने न केवल अपनी अनुवाद क्षमता को प्रमाणित किया है, अपितु यह भी उजागर किया है कि वे स्वतंत्र रूप से भी श्रेष्ठ कवि है। वैसे भी मैं उनकी कविताओं को उनसे सुन चुका हूँ। कुछ प्रकाशित कविताएँ भी पढ़ी हैं। गोरखपुर की गोष्ठियों में वे अच्छे रचनात्मक और सुधी सामाजिक की तरह हमेशा आदरणीय रहे हैं। अतः मैं निवेदन कर सकता हूँ कि वे अपने इन्जीनियर पद पर से अवकाश प्राप्त करने के बाद साहित्य और समाज के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। मेरे विश्वास की जमीन पर उनकी 'गीतांजलि' एक सुखद घटना है।

एक कवि और अनुवादक के लिए इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है कि वह जब विदा ले केवल अंतिम में नहीं, कहीं से भी तो उसके शब्द हों, भले वे मौन में ही प्रकट हों–

गीतांजलि से–

जब मैं लूँगा विदा यहाँ से तब यह निकले
मुँह से मेरे शब्द कि मैंने जो देखा है,

वह सब बड़ा विलक्षण और अभूतपूर्व है।

रवि बाबू की भावनाओं को अपने शब्दों में ढालकर मिश्र जी ने एक प्रका
से एक और रचना प्रस्तुत की है– एक तरह का अनुवर्ती खण्ड काव्य या वि
प्रबंध काव्य। शिल्प और काव्य भाषा की भी दृष्टि से सराहनीय ऐसी कृति के लि
काव्य प्रमियों का साधुवाद मिलना ही चाहिए। मेरा अभिनन्दन

डा. अनन्त मि
उपाचार्य हिन्दी विभा
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर, विश्वविद्यालय, गोरख

शुभाशंसा

'श्री मद्भगवद्गीता' के हिन्दी काव्य–रूपान्तर के अवलोकन के उपरान्त कविवर श्री शारदा प्रसाद मिश्र की ही दूसरी कृति 'गीतांजलि' का हिन्दी काव्य–रूपान्तर आद्योपान्त पढ़ने का अवसर मिला। प्रस्तुत कृति की उत्कृष्टता सर्वथा निर्विवाद है। किसी मूल कृति का रूपान्तर – विशेष रूप से काव्य–रूपान्तर वस्तुतः एक कठिन एवं दायित्व पूर्ण कार्य होता है। इस महत्वपूर्ण कार्य – सम्पादन में प्रायः रूपान्तरकार छन्द–योजना को एवं भाषा–सृजन के बुद्धि जाल में उलझकर मूल ग्रन्थ के भावों एवं विचारों को यथावत् संप्रेषित नहीं कर पाते। फलतः रूपान्तर में मूल कथ्य की आत्मा अपने यथार्थ रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाती। परन्तु जिस कवि में विषय–वस्तु की सच्ची पकड़, अभिव्यक्त भावों की सहज अनुभूति तथा मूल ग्रन्थकार की अन्तरात्मा के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता होती है, वह समग्र भावों एवं विचारों को आत्मसात् करते हुये अपने काव्य–रूपान्तर को सब प्रकार से परिपूर्ण एवं मूल कृति से अभिन्न स्वरूप प्रदान करने में सर्वथा सफल सिद्ध होता है। श्री शारदा प्रसाद मिश्र एक सिद्धहस्त, अनुभवी एवं विद्वान् कवि हैं जिनके व्यापक अनुभव, गहन दार्शनिक चिन्तन एवं अध ययन का आयाम अत्यन्त विस्तृत है। उनकी अन्य कृतियों की भांति प्रस्तुत कृति में भी सहज अनुभूति एवं सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के सर्वथा दर्शन होते हैं। फलतः ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत काव्य–कृति 'रूपान्तर' न होकर कवीन्द्र रवीन्द्र की ही मूलः'गीतांजलि' के सहज भावों की यथावत् हिन्दी–काव्याभिव्यक्ति है।

श्री मिश्र जी क़ी प्रस्तुत कृति में भाव–गांभीर्य एवं विचारों की गहनता के साथ–साथ अभिव्यक्ति की सहजता एवं बोधगम्यता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। कृति की भाषा विषय–वस्तु की गंभीरता, गरिमा एवं उसके उद्देश्य की उदात्तता का सर्वत्र अनुगमन करती दृष्टिगत होती है। परोक्ष सत्ता के प्रति समर्पण एवं सामीप्य भाव मूल ग्रंथ के ही अनुरूप तथा यत्र–तत्र अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्पष्ट, सहज एवं सुगम

परिलक्षित होता है। भावों की बोधगम्यता एवं सप्रेषणीयता सर्वत्र समान है। जटिलता कहीं भी नहीं है। भाषा में प्रवाह की सहजता समान रूप से बनी हुई है। काव्य की प्रत्येक पंक्ति में कवि के मनन–चिन्तन के साथ–साथ तल्लीनता अपने अतिशयित रूप में दृष्टिगोचर होती है।

अन्ततः 'गीतांजलि' के हिन्दी काव्य–रूपान्तर स्वरूप प्रकाशित श्री शारदा प्रसाद मिश्र की प्रस्तुत कृति अपनी उत्कृष्टता एवं उपादेयता की दृष्टि से सर्वथा प्रशंसनीय है तथा हिन्दी एवं हिन्दी–प्रेमियों के लिए एक अमूल्य निधि है। जिन्हें बँगला भाषा का ज्ञान नहीं है, वे रवीन्द्र की मूल 'गीतांजलि' के अध्ययन एवं भाषा–ग्रहण से वंचित रह जाते है तथा मात्र अनुवाद एवं सामान्य रूपान्तरों से ही येन केन प्रकारेण स्वयं को संतुष्ट समझने के लिये विवश हो जाते हैं। श्री मिश्र जी की प्रस्तुत हिन्दी 'गीतांजलि' मात्र हिन्दी समझने एवं पढ़ने वाले व्यक्तियों के लिये एक अपूर्व योगदान है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत कृति पाठकों के लिये मूल गीतांजलि ही सिद्ध होगी। यदि अन्तर होगा तो मात्र भाषा का।

अन्य भाषाओं में प्रणीत उत्कृष्ट कृतियों के ऐसे उत्तम एवं अनन्य रूपान्तर प्रकाशित करना सुधी प्रकाशक बन्धुओं का परम कर्त्तव्य है तथा हिन्दी के प्रति उनकी सच्ची सेवा का द्योतक है।

डॉ० हृदय नारायण त्रिपाठी
एम० ए०, डी० फिल०
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
डी. बी. एस. (पो० ग्रे०) कालेज, देहरादून।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गीतांजलि का पद्यानुवाद

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत गीताजंलि की रचना १६१० में हुई। कवि ने इसमें अभिनव शैली को अपनाया। इसी के अनुवाद पर उन्हे नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। उसमें चुने हुए १०३ गीत थे जबकि मूल गीतांजलि में १५६ रचनायें हैं। ये काव्यगुण तथा रीतिगुण दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। यह भक्तिपरक काव्य है। इसमें उपनिषदों की तत्त्वचिन्ता तथा वैष्णव कवियों की प्रेम भावना दोनों का अद्‌भुत मिश्रण है। इसी विशेषता के कारण इसे सभी देशों में सम्मान मिला।

कवि श्री शारदा प्रसाद मिश्र का प्रस्तुत अनुवाद अंग्रेजी संस्करण से किया गया है यद्यपि कि अनुवाद स्वयं में एक कठिन तपस्या है। मौलिक तो सीधे ही लिखा जाता है किन्तु अनुवाद के लिए कवि की मूल भावनाओं तक पहूँचकर तब दूसरी भाषा का रूप देना होता है। लेकिन प्रस्तुत अनुवाद इस अर्थ में सफल रहा है कि अनुवाद से मूल की अनुभूति आसानी से हो जाती है। अनुवादक का हिन्दी व अंग्रेजी पर समान अधिकार प्रमाणित होता है। एक उद्धरण प्रस्तुत हैः

> अन्तहीन नुमने मेरा निर्माण किया
> ऐसे तुम करुणा सागर हो।
> करते रिक्त और भरते हो
> बारबार लघु पात्र यह,
> सदा सर्वदा जीवन के ताजे जल से ।।

ईश्वर के निवास स्थान का निर्धारण देखिए–

> यहाँ तुम्हारा पादासन पर चरण वहाँ बसते हैं।
> जहाँ अकिंचन और तुच्छतम विस्मृत जन रहते हैं।।

कवि का यह चिन्तन उसे गम्भीरता की ऊँचाई प्रदान करता है। अनुवाद का एक और प्रमाण–

है मालूम मुझे कि एक दिन आयेगा जब
ओझल हो जाएगी यह धरती आँखों से।
मौन विदा ले जीवन कूच करेगा तब यह
मेरे नयनों पर अन्तिम आवरण डालकर।

रवीन्द्रनाथ इन गीतों के माध्यम से प्रभु से अपने दौर्बल्य को दूर करने की प्रार्थना करते हैं। वह दीन दुःखियों में शामिल होने वाला हृदय चाहते हैं तथा परम पिता परमेश्वर से अहंकार समाप्त करने की प्रार्थना भी करते हैं। यह काव्य आध्यात्म का सुमेरु है।

प्रस्तुत अनुवाद पढ़कर पाठक गीतांजलि के भावों तक पहुँच सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। ऐसे सफल अनुवाद का हिन्दी जगत में स्वागत होगा। अनुवादक इसके लिये बधाई के पात्र हैं।

इत्यलम्

डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र
डी० लिट०
सम्पादक, परिषद् – पत्रिका, बिहार – राष्ट्रभाषा – परिषद्
शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना – ८००००४

पृष्ठभूमि

'गीतांजलि' का नाम तो मैंने काफी समय पहले छात्र–जीवन से ही सुन रक्खा था कि यह गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा लिखी गई है और इस पर नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया है। वास्तव में इस नोबेल पुरस्कार के कारण ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्व प्रसिद्ध हो गए और उनकी वह पुरस्कृत कृति गीतांजलि भी विश्व भर में चर्चित हो गई। फिर भी मेरे मन में न कभी कोई जिज्ञासा हुई और न कोई अवसर ही आया कि मैं इस पुस्तक को देखता। कारण यह था कि मेरा व्यावसायिक कार्यक्षेत्र न तो किसी साहित्यिक वातावरण से सम्बन्धित रहा और न किसी बौद्धिक परिवेष से। अभिरुचि अवश्य साहित्यिक रही परन्तु व्यवसाय नितान्त भिन्न। इस कारण इस पुस्तक को देखने का अवसर बहुत दिनों तक प्राप्त न हो सका था। वर्ष १६७० के लगभग मैंने नोबेल पुरस्कार से सम्मानित इस अंग्रेजी गीतांजलि को अपने एक मित्र के घर पर देखा। देखा और जब पढ़ना प्रारम्भ किया तो पढ़ता ही गया। विचारों और भावों की गहनता मौलिकता और आश्चर्य जनक ढंग से उसकी अभिव्यक्ति अभिराम और काव्यात्मक अंग्रेजी भाषा में पाकर मैं मुग्ध हो उठा। फिर उस पुस्तक को कई बार आद्योपान्त पढ़ता रहा और आनान्दित होता रहा। तभी यह बात समझ में आई कि इतनी छोटी सी पुस्तक जिसमें मात्र १०३ छोटे–छोटे गीत हैं क्यों नोबेल पुरस्कार के लिए योग्य पाई गई।
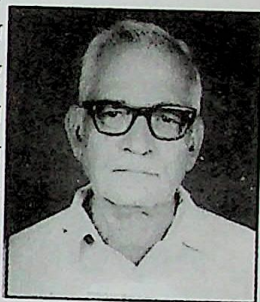
पुस्तक के पढ़ने से प्राप्त आनन्द की अनुभूति के साथ ही यह भी जिज्ञासा और आकांक्षा मन में उदित हुई कि ऐसे सुन्दर भावों की काव्यमय अभिव्यक्ति हिन्दी भाषा में भी उपलब्ध होना चाहिए। वह केवल, अंग्रेजी और बँगला में ही सीमित होकर नहीं रह जाना चाहिए।अतः तत्क्षण मैंने अपने कौतूहल को शान्त करने और अपनी परीक्षा भी लेने के उद्धेश्य से प्रथम गीत का हिन्दी काव्यानुवाद करने के लिए लेखनी उठा ली। इससे मुझे समुचित सन्तोष मिला और तत्पश्चात् एक के बाद एक गीत का अनुवाद करता ही गया जो १६८५ में जाकर पूरा हुआ।

मेरा यह अनुवाद तो अब पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है परन्तु मैंने बाजार में इसके अन्य कई अनुवाद देखे भी हैं। मैंने सब का संग्रह किया हुआ है। अधिकतर वे गद्य में हैं और काव्यात्मक आनन्द नहीं देते। केवल एक अनुवाद है जो इन सब से भिन्न है। वह मूल बँगला गीतांजलि से काव्यात्मक सुन्दर भाषा में स्व. श्री हंस कुमार तिवारी द्वारा किया गया है। श्री तिवारी जी कभी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना के निदेशक भी रह चुके थे। सेवानिवृत्ति के तुरन्त बाद ही उनका असामयिक निधन हो गया था। उनका अनुवाद प्रामाणिक, सुन्दर और गेय तो है परन्तु भावों व विचारों की तीव्रता और सम्प्रेषण की शक्ति तुकान्त शब्दावली की खोज के कारण शिथिल सी दिखाई देती है।

मेरे अनुवाद की विशिष्टता यह है कि यह पुरस्कृत कृति का ही हूबहू अनुवाद है और यद्यपि यह अंग्रेजी भाषा से किया गया है तथापि वह अंग्रेजी भाषा में रुपान्तरण मूल बँगला से चूँकि कवि द्वारा स्वयं किया गया था, इसलिए उसे मौलिक ही माना जाना चाहिए। दूसरे इसके कुछ ही गीत मूल बँगला गीतांजलि से लिये गए हैं। इसके अन्य गीत कवि की अन्य कृतियों से संकलित करके १०३ गीतो की अंग्रेजी गीतांजलि नोबेल पुरस्कार के लिए चयनित हुई। इन्ही १०३ गीतों का यह अतुकान्त किन्तु प्रवाहमय और गेय हिन्दी काव्यानुवाद है।

मेरा अनुवाद पाठकों के सामने है। "निज कवित्त केहि लागि न नीका" के अनुसार मुझे तो यह काफी कुछ संतोष दे रहा है परन्तु इसकी असली परीक्षा तो सुधी विज्ञ और काव्य रासिक पाठक ही करेंगे।

फिर भी मुझे विस्तृत हिन्दी साहित्य जगत के सामने यह अपना छुद्र प्रयास प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। यदि यह पुस्तक अपने मूल भावों विचारों और सौन्दर्य को किसी सीमा तक सुविज्ञ हिन्दी पाठकों तक पहुँचा कर उनके मन को थोड़ा भी आह्लादित कर सकी तो मैं अपना यह प्रयास सफल समझूँगा।

शारदा प्रसाद मिश्र

गीतांजलि

अनुवादक

शारदा प्रसाद मिश्र

१. अन्तहीन तुमने मेरा निर्माण किया

अन्तहीन तुमने मेरा निर्माण किया,
ऐसे तुम करूणासागर हो।
करते रिक्त और भरते हो
बारबार लघुपात्र यह,
सदा सर्वदा जीवन के ताजे जल से।

इस सरकंडे की लघुवंशी को भी तुम,
पर्वत उपत्यकाओं पर ले चले साथ।
और फूँककर उसमें स्वर शाश्वत नवीन,
उत्पन्न किया है एक अनूठा मधुर राग।

अमृत स्पर्श प्राप्तकर तेरे हाथों का,
मेरा छुद्र हृदय खो देता निज सीमा,
उस आनन्द सिन्धु में जहाँ प्रकट होते,
मेरे ये उद्‌गार स्वयं बनकर कविता।

जो अनन्त उपहार दिए तुमने मुझको,
वे सब इन लघु हाथों में ही तो आए।
बीतते जा रहे युग तुम लुटा रहे फिर भी,
किन्तु अभी भी स्थान बहुत है खालीपन भरने को।

● ● ●

२. जब होता आदेश तुम्हारा गायन को,

जब होता आदेश तुम्हारा गायन को,
मेरा हृदय गर्व से इतना भर जाता,
लगता है जैसे वह टूट विखर जायेगा।
तब निहारता हूँ मैं तव छवि निर्निमेष,
और अश्रुकण आ जाते मेरे नयनों में।

मेरे जीवन का कठोर या रूक्ष तत्व,
जो कुछ भी है वह सारा विगलित हो जाता,
एक मधुर स्वर में होता फिर प्रवहमान वह,
तब व्यापक बनने लगती मेरी पूजा।
जैसे पंख फैलता नभ में उस हर्षित पक्षी का,
जो उड़ान भरता सागर के पार निकल जाने को।

मेरे गायन से तुम आह्लादित होते हो,
ऐसा मैं अनुभव करता हूँ और पास आता हूँ,
तेरे सम्मुख केवल गायक के स्वरूप में।

मैं करता हूँ स्पर्श तुम्हारे चरणों का,
अपने गीतों के पंखों के धार मात्र से,
जो अनन्त में फैल रहे हैं, जहाँ पहुँच पाने की,
क्षमता ही मुझ में न कभी थी साध सँजो पाने की।

होकर मैं आनन्दमत्त मधुपायी सा गायन में,
विस्मृत कर देता हूँ निज को
फिर कहने लगता हूँ
'तुम्हें मित्र' यद्यपि तुम तो मेरे स्वामी हो।

● ● ●

३. नहीं जान पाता हूँ तुम कैसे गाते हो

नहीं जान पाता हूँ तुम कैसे गाते हो,
मेरे स्वामी।
सतत सुना करता मैं बस चुपचाप चकित सा।

तव संगीत ज्योति ज्योतित करती समग्र जग
और डोलती गगन गगन में,
प्राण वायु तेरे ही स्वर की।

निःसृत होती पावन धारा तेरे स्वर की,
तोड़ ताड़कर शिलाखंड जैसी बाधाएं।

मेरा हृदय चाहता तेरे स्वर में गाऊँ,
विफल किन्तु रहता न उसे मिल पाती वाणी
क्या बोलूं मैं स्वर गीतों में प्रकट न होता,
विस्मित सा मैं केवल आर्तनाद कर पाता।
हाय! बना डाला तुमने मेरा उर बन्दी,
निज विशाल संगीत जाल में मेरे स्वामी।

● ● ●

४. मेरे जीवन का जीवन्त रूप मेरा तन

मेरे जीवन का जीवन्त रूप मेरा तन,
रहे शुद्ध सर्वदा करूँगा मैं प्रयत्न यह।
क्योंकि जानता हूँ सदैव जो विद्यमान है,
तेरा ही जीवन्त स्पर्श मेरे अंगों पर।

मैं प्रयत्न सर्वदा करूँगा ऐसा जिससे,
रहे असत्य सदैव दूर मेरे चिन्तन से।
क्योंकि जानता हूँ तुम ऐसे सत्य रूप हो,
जगा दिया है ज्योति न्याय की जिसने मुझ में।

यत्न करूँगा उर से सब दुर्वृत्ति दूर हों,
और प्यार मेरा केवल भर जाय सुमन में।
क्योंकि जानता हूँ तुम तो करते निवास हो,
मेरे अन्तर के आन्तरिक पवित्र भूमि में।

और प्रयत्न सर्वदा होगा मेरा ऐसा,
मेरे कार्य कलाप तुम्हें उद्‌धाटित कर दें।

क्योंकि जानता हूँ तेरी ही प्रबल शाक्ति ही
मुझकों देती शक्ति सदा कुछ कर पाने को।

• • •

५. मैं अनुमति चाहता कि यह धृष्टता करूँ मैं

मैं अनुमति चाहता कि यह धृष्टता करूँ मैं,
बैठूँ पास तुम्हारे केवल दो क्षण भर को।
कन्धों पर मेरे जो इस क्षण कार्यभार हैं,
कर डालूँगा सम्पादित मैं उन्हें बाद में।

दूर तुम्हारे मुख–छवि के दर्शन से होकर,
मेरे उर को चैन और विश्राम न मिलता।
कार्यभार मेरा अपार तब हो जाता है,
तट विहीन श्रम के समुद्र में खो जाता हूँ।

आज ग्रीष्म मेरे वातायन में आया है,
स्वर में जिसके असन्तोष एवं कराह है।
नृत्यगान करतीं पर मधुमक्खियां चली हैं,
गन्धर्वों सी पुष्पित कुंजों के आँगन में।

है उपयुक्त समय यह बैठें शान्त चित्त हो,
साथ तुम्हारे होकर के आमने सामने।
और समर्पण गान आज गाएँ जीवन का,
इन अतिशय अवकाशपूर्ण निश्चिन्त क्षणों में।

● ● ●

६. यह लघु पुष्प तोड़ लो, ले लो देर करो मत

यह लघु पुष्प तोड़ लो, ले लो देर करो मत,
झड़ न कहीं जाये या रज में मिल जाये यह।

भले न स्थान मिले इसको तव पुष्पहार में,
पर निज कर–स्पर्शो से कुछ पीड़ा प्रदान कर,
और तोड़ कर इसको सम्मानित कर दो तुम।

हो न कहीं जाये दिन का अवसान और मैं,
जान न पाऊँ जाये बीत समर्पण बेला।

यद्यपि रंग न आकर्षक फीकी सुगन्ध भी,
पर है विनय तोड़ उपयुक्त समय के भीतर,
ले लो तुम इसको अवश्य ही निज सेवा में।

●●●

७. मेरी गान कला ने निज श्रृंगार तज दिये

मेरी गान कला ने निज श्रृंगार तज दिये,
अब न गर्व है उसे वस्त्र या अलंकार पर।

आभूषण आनन्द मिलन का कम करते थे,
आकर बीच हमारे वे बाधा बनते थे।
उनकी खनक डुबो देती थी उन शब्दों को;
कानों में जो तुम धीरे–धीरे कहते थे।

मेरा कवि–अभिमान मिटा जाता लज्जित हो,
ओ कवि पुंगव! मै नतशीश हुआ तव सम्मुख।

केवल मुझे बनाने दो निज जीवन निश्छल,
और सरल सरकंडे के वंशी समान बस,
जिसमें तुम भर दो संगीत सुधा की धारा।

● ● ●

८. राजकुमारों के वस्त्राभरणों से सज्जित

राजकुमारों के वस्त्राभरणों से सज्जित,
और गले में मोती की मालाएँ डाले,
शिशु खो देता है सारा आनन्द खेल का,
उसकी हर गति को करता अवरुद्ध वेष है।

अस्त-व्यस्त या धूमिल कहीं न हो जाये यह,
इस डर से रखता वह दूर स्वयं को जग से।
और न चल फिर तक पाता स्वच्छन्द रूप से।

ये अति सुन्दर और सूक्ष्म बन्धन हैं तेरे,
माँ! पर बतला तू इनसे है लाभ कौन सा,
कर देता जो दूर स्वास्थ्यप्रद धूलि कणों से।
और भाग लेने जन-जीवन के मेले में,
करते जो वंचित प्रवेश के अधिकारों से।

● ● ●

६. अपने ही कन्धों पर अपना बोझ स्वयं तू

अपने ही कन्धों पर अपना बोझ स्वयं तू,
ढोने का प्रयत्न करता है अरे मूढ़मति।
दान माँगता है अपने ही द्वार स्वयं तू,
यह कैसा भिक्षाटन! तू कैसा भिक्षुक है।

अरे डाल दे अपना बोझ उन्हीं हाथों पर,
जो समर्थ हैं सारा सदा वहन करने को।
और तनिक भी खेद न कर पीछे निहार मत।

तेरी इच्छाएँ तो अपने श्वास–स्पर्श से,
तुरत बुझा देतीं दीपक मिटता प्रकाश है।
अरे पवित्र नहीं हैं ये तो, तू मत ले जा–
निज उपहारों को इनके अपवित्र करों से,
और ग्रहण कर वह जो मिले पवित्र प्रेम से।

● ● ●

१०. यहाँ तुम्हारा पादासन पर चरण वहाँ बसते हैं

यहाँ तुम्हारा पादासन पर चरण वहाँ बसते हैं,
जहाँ अकिंचन और तुच्छतम विस्मृत जन रहते हैं।

तेरे सम्मुख जब मैं शीश नवाता हूँ तब,
पहुँच नहीं पाता है मेरा नमन वहाँ तक,
चरण तुम्हारे जिस गहराई तक बढ़ते हैं,
जहाँ अकिंचन और तुच्छतम विस्मृत जन रहते हैं।

पास न जा सकता घमंड है कभी वहाँ तक,
दीन वेश में जहाँ कि तुम विचरण करते हो,
जहाँ अकिंचन और तुच्छतम विस्मृत जन रहते हैं।

राह न मिल पाती है मेरे उर को जिससे,
पहुँच सके वह जहाँ कि तुम बनते साथी हो,
उनके जिनके साथ नहीं कोई होते हैं,
जहाँ अकिंचन और तुच्छतम विस्मृत जन रहते हैं।

● ● ●

११. तज दे रे यह कीर्तन गायन मालाओं का जाप

तज दे रे यह कीर्तन गायन मालाओ का जाप,
इस एकाकी मन्दिर में किसकी पूजा करता है।
द्वार बंद हैं और यहाँ तो गहन तिमिर छाया है,
खोल नेत्र औ देख कि तेरा ईश्वर यहाँ नहीं हैं।

वह है जहाँ कठोर भूमि को जोत रहा कर्षक है,
और जहाँ पर पथ निर्माता तोड़ रहा पत्थर है।
वह उनके साथ धूप में आँधी में वर्षा में,
और धूल से उसका भी परिधान मलिन होता है।

अपने साधु वेष को तजकर उसी तरह रे,
तू भी आ नीचे इस धूल भरी मिट्टी पर।

मुक्ति ! कौन सी मुक्ति ! कहाँ वह मिलती है रे !
अपने स्वामी ने जब लिया सहर्ष स्वयं है,
सभी बंधनों को जो निर्मित हुए सृष्टि में,
और बँधा है वह हम सबसे सदा सदा को।

हानि न कोई वस्त्र फटे या धूमिल हो पर,
ध्यान भंग कर बाहर आ तज पुष्प धूप को।
मिल ले और साथ हो जा उसके अब केवल,
श्रम के पथ पर चलकर लेकर स्वेद भाल पर।

● ● ●

१२. मेरी यात्रा तो ले लेती समय बहुत है

मेरी यात्रा तो ले लेती समय बहुत है,
पथ भी इसका छोटा नहीं बहुत लम्बा है।

मैं प्रकाश की प्रथम किरण के रथ पर चढ़कर,
चला और आया हूँ होकर जंगल–जंगल,
करता हुआ पार कितने ही संसारों को,
पद चिन्हों को छोड़ ग्रहों औ नक्षत्रों पर।

बहुत बड़ा है पास तुम्हारे जो पथ आता,
उस पर चलने का भी है अभ्यास कठिनतम,
किन्तु सरलतम स्वर जैसी परिणति है उसकी।

पथिक पराए दर दर होकर जब आता है,
तब निज द्वारे पर वह कहीं पहुँच पाता है।
करके भ्रमण बाह्य लोकों में इसी भांति तो,
संभव है प्रवेश आन्तरिक पवित्र भूमि में।

दूर–दूर तक ढूँढ़ ढूँढ़ कर थके नयन ये,
उस क्षण तक जब तक न इन्हें मैने मूँदा था।
और कह उठा था कि 'अरे तुम यहीं उपस्थित'।

खोज रहा उत्तर अधीरता से जग जिसका,
प्रश्न कि 'अरे कहाँ तुम' विगलित हो जाता है,
अश्रुधार में जो कि सहस्त्रों स्रोतों में बह,
वन समुद्र सान्त्वना दे रहा कि 'मैं सदा हूँ'।

● ● ●

१३. अब तक गाया नहीं जा सका अरे गीत वह

अब तक गाया नहीं जा सका अरे गीत वह,
जिसका करने गान यहाँ तक मैं आया था।

बिता दिये हैं दिवस सभी मैंने तो केवल,
कसने और ढीलने में निज वाद्य–यन्त्र को।

समय नहीं उपयुक्त अभी तक सिद्ध हुआ है,
शब्दों का क्रम भी न अभी तक ठीक बँधा है,
किन्तु व्यथा है बहुत चाहने की अन्तर में।

हो न सका प्रस्फुटित अभी तक सुमन–कोष है,
आह भर रहा है बस केवल पवन पास में।

मैं न अभी तक देख सका हूँ आकृति उसकी,
और न सुन ही सका कभी उसकी वाणी को।

आती हुई सड़क से पर धीमी सी पग–ध्वनि,
उसकी सुन पाया हूँ मैं केवल निज गृह से।

करते हुए व्यवस्थित उसके ही आसन को,
पूरा दिवस व्यतीत हो गया शाम हो गयी।
किन्तु अभी तक जल न सका है दीपक जिससे,
कह न सकूँगा उससे निज गृह में प्रवेश को।

उसके साथ मिलन की मधुर संजोए आशा,
मैं जीता हूँ पर न घड़ी वह अब तक आई।

● ● ●

१४. मेरी इच्छाएँ अनेक हैं रुदन करुण है

मेरी इच्छाएँ अनेक हैं रुदन करुण है,
किन्तु अस्वीकृति देकर तुम अपनी रूखी सी,
इनसे मुझे सदैव बचाते ही आए हो।
और यही करुणा अमोघ मेरे जीवन के,
कण कण में ढलती जाती है पिघल–पिघलकर।

दिन प्रतिदिन तुम मुझे बनाते योग्य जा रहे
अपने सरल अमूल्य अनेकों उपहारों के,
जिन्हे दे दिया है तुम ने मुझको बिन माँगे,
जैसे यह अम्बर प्रकाश जीवन तन या मन,
करते हुए मुक्त मुझको तृष्णातिरेक से।

ऐसे क्षण आते अनेक जब मैं प्रतीक्षा
बड़ी व्यग्रता से करता हूँ और कई क्षण,
होकर जाग्रत लक्ष्य प्राप्ति के लिए दौड़ता।
पर नयनों से ओझल हो जाते तुम न्ष्ठिुर।

दिन प्रतिदिन तुम मुझे बनाते योग्य जा रहे
ऐसा जिससे तुम मुझको स्वीकार कर सको।
और सर्वदा ठुकराकर मेरी इच्छाएँ,
मुझे बचाते तुम दुर्बल चंचल चाहों से।

● ● ●

१५. तुम्हें सुनाने गीत यहाँ पर मैं आया हूँ

तुम्हें सुनाने गीत यहाँ पर मैं आया हूँ
और तुम्हारे इस विशाल आँगन के भीतर
एक किनारे कोने में आसन है मेरा।

तेरी दुनिया में तो ऐसा काम नहीं है
मेरे द्वारा करने को जो शेष बचा हो
अरे निष्प्रयोजन यह मेरा जीवन तो बस
टूट टूटकर बिखर बिखर सकता है केवल
अर्थहीन सुर तालों के रूपों में बँधकर।

गहन तिमिरमय अर्द्ध निशा के मन्दिर में जब
तेरे मौनाराधन का पावन क्षण आए
तब आदेश मुझे दें स्वामी तेरे सम्मुख
आ जाऊँ मैं और करूँ फिर गायन अपना।

जब प्रभातकालीन पवन में स्वर्णिम वीणा–
के स्वर साधे जायें तब हो सकूँ उपस्थित,
ऐसा दे आदेश मुझे सम्मानित कर दो।

● ● ●

१६. इस जग के उत्सव में होने हेतु सम्मिलित

इस जग के उत्सव में होने हेतु सम्मिलित,
मिला निमंत्रण उससे जीवन धन्य हुआ यह।
देख लिया नयनों ने सुना श्रवण ने सब कुछ।

कार्यभार था मेरे ऊपर इस उत्सव में,
अपने वाद्यों का मैं वादन करुँ इसलिए,
जो कुछ भी हो सका किया मैंने है उतना।

अब है मेरी जिज्ञासा क्या समय अन्ततः
आया है वह जबकि जा सकूँगा मैं भीतर,
जहाँ देख मैं सकूँ तुम्हें अपनी इच्छा भर,
औ, अर्पित कर सकूँ मूक अपना अभिवादन।

● ● ●

१७. स्नेहदान पा सकूँ और अर्पित कर दूँ मैं

स्नेहदान पा सकूँ और अर्पित कर दूँ मैं,
अपने को अन्ततः स्वयं उसके हाथो में,
इसीलिए कर रहा प्रतीक्षा मैं अब तक हूँ।
बस है यह कारण विलम्ब जो हुआ और मैं,
अपराधी हूँ ऐसे ही अनेक त्रुटियों के।

जग लेकर निज नियम विधान पास आता है,
मुझे बाँधने को बन्धन में जकड़–जकड़कर।
किन्तु स्वयं को सदा बचाता ही आया हूँ,
क्योंकि प्रतीक्षारत हूँ स्नेहदान पाने की,
और अन्ततः अर्पित होने उसके कर में।

लोग दोष देते मुझको यह भी कहते हैं,
यह अन्यों की बात न सुनता जो कि सत्य है।
उनका यह दोषारोपण सब भाँति उचित है।

दिन बीता अब हुआ यहाँ बाजार बन्द है।
हुए समाप्त कार्य सारे अब व्यस्त जनों के।
वे जो आये मुझे बुलाने हो निराश अब,
लौट गए वापस मुझसे, अत्यन्त रुष्ठ हो।
स्नेहदान पा सकूँ और अर्पित कर दूँ मैं
अपने को अन्ततः स्वयं उसके हाथों में,
इसीलिए कर रहा प्रतीक्षा मैं अब तक हूँ।

● ● ●

१८. घन घिरते जाते हैं और तिमिर बढ़ता है

घन घिरते जाते हैं और तिमिर बढ़ता है।
ऐसे में प्रिय क्यों छोड़ा मुझको एकाकी,
दरवाजे के बाहर मग्न प्रतीक्षा में ही।

जब बढ़ता है कार्यभार जग के धंधों का,
मैं खो जाता भीड़ बीच उन व्यस्त क्षणों में।

एकाकी पर अन्धाकारमय दिवसों में तो,
केवल एक तुम्हारी ही आशा रहती है।

यदि तुम नहीं दिखाओगे निज आकृति मुझको,
और छोड़ दोगे मुझको पूर्णतः इस तरह,
मुझे नहीं मालूम कि कैसे बीत सकेंगी
वर्षा की ये कष्टदायिनी लम्बी घड़ियाँ।

मैं निहारता रहता हूँ निस्तब्ध उदासी,
दूर–दूर तक जो कि क्षितिज में समा गई है।
और हृदय भटका करता हैं विचलित होकर,
तीव्र वायु के झोकों सा होकर अति चंचल।

● ● ●

१६. यदि तुम वंचित रक्खोगे अपनी वाणी से

यदि तुम वंचित रक्खोगे अपनी वाणी से
मौन तुम्हारा अन्तर में भर वहन करूँगा।
और प्रतीक्षा मग्न रहूँगा शान्त भाव से।

जैसे ले सन्तोष–शान्ति नत शीश निशा यह,
तारक नयन सतर्क सदा जाग्रत रहती है।

आयेगा प्रभात निश्चित यह तिमिर हटेगा,
और तुम्हारी वाणी तब स्वर्णिम स्रोतों में,
प्रवहमान हो उमड़ पड़ेगी फोड़ गगन को।

तब तो तेरे शब्दों को पर मिल जायेंगे,
बनकर गीत उड़ेंगे वे मम विहग नीड़ से
और तुम्हारे मधुर राग फिर फूट पडेंगे
सुमन सदृश मेरे सारे कानन कुंजो में।

● ● ●

२०. जिस दिन कमल खिला था उस दिन हा ! मेरा मन

जिस दिन कमल खिला था उस दिन हा! मेरा मन,
डूब विकारों में ऐसा हो गया भ्रमित था,
पड़ा रहा खाली ही मेरा पुष्प थाल भी,
और फूल अनजाने ही रह गया उपेक्षित।

जब–जब उदासीनता के घेरे में पड़कर,
टूटे मेरे स्वप्न मुझे आभास हुआ है,
एक विचित्र मधुर सौरभ दक्षिणी पवन में।

इस रहस्यमय मृदुता ने मेरे अन्तर में,
जाग्रत कर दी इच्छाओं की ऐसी पीड़ा,
लगता है जैसे यह उत्सुक श्वास ग्रीष्म की,
चाह रही जो अपनी ही पूर्णत्व प्राप्ति हो।

जान सका तब नहीं कि वह इतना समीप है।
और कि वह मेरा ही है, सम्पूर्ण मधुरता,
हुई प्रस्फुटित है मेरे ही अन्तस्तल में।

● ● ●

२१. मुझे चाहिये अपनी नौका शीघ्र चलाऊँ

मुझे चाहिये अपनी नौका शीघ्र चलाऊँ।
बीत रहीं उत्साहहीन घड़ियाँ तट पर ही,
हाय हमारी !
आया सुमन वृष्टि कर मधु ऋतु चला गया,
और साथ अब मुरझाये बासी फूलों के,
मैं चुपचाप प्रतीक्षा में ही पड़ा हुआ हूँ।

कल–कल, छल–छल स्वर लहरों का मुखर हो रहा।
और किनारे तरु छाया में पीले पत्ते,
गिर–गिर फिर उड़–उड़कर फड़–फड़ स्वर करते हैं।

अरे कौन शून्यत्व जिसे तू यों निहारता।
क्या तुम अनुभव कर न रहे हो सिहरन ऐसी,
जो कि वायु में समा रही आ गायन स्वर ले,
बहुत दूर दूसरे पार से तैर तैर कर।

● ● ●

२२. श्रावण मास और घनघोर घटा छाई है

श्रावण मास और घनघोर घटा छाई है।
ऐसे में तुम दबे पाँव निःशब्द निशा से,
घूम रहे हो गुप्त रूप से दृष्टि बचाकर।

मूँद लिये हैं आज नयन अपने प्रभात ने,
ध्यान न देकर पुरवा के करतल की ध्वनि पर।
और सतत जाग्रत नीले नभ के सम्मुख अब,
अंधकार का एक घना आवरण छा गया।

बंद कर दिए गीत गान अब वन प्रान्तर ने,
और द्वार भी हर घर के अब बन्द हो गए।
बियाबान इस पथ पर बस अब तुम्हीं पथिक हो।

एकमात्र मम सखा, और हे प्रियतम मेरे।
मेरे घर के सब दरवाजे खुले हुए हैं,
चले न जाना कहीं इधर से स्वप्न सदृश तुम।

● ● ●

२३. इस तूफानी काल निशा के अंधकार में

इस तूफानी काल निशा के अंधकार में,
निकल पड़े क्या करने को अभिसार सखे, तुम?
आहें भरता है अम्बर निराश प्रणयी सा।

बार–बार मैं द्वार खोलता औ निहारता,
अंधकार में मेरे प्रियवर।
नींद नहीं आती मुझको इस रात्रि प्रहर में।

देख न पाता हूँ कुछ भी अपने सम्मुख मैं,
अति आश्चर्यचकित हूँ कहाँ तुम्हारा पथ है।

काली–काली सरिता के किस धुँधले तट से,
भयावने क्रोधित वन के किस दूर छोर से,
घोर उदासीपन के किन गहरे गर्त्तों से,
अपनी राह बनाते तुम आ रहे निकट मम।

● ● ●

२४. यदि समाप्त हो जाय दिवस का कार्य और यदि

यदि समाप्त हो जाय दिवस का कार्य और यदि,
चिड़ियों ने भी अपना गायन बंद कर दिया,
चल चलकर थक जाने का संकेत पवन दे,
तो तुम मुझे छिपा दो तम की मोटी तह में।
वैसे ही जैसे तुमने निद्रा की चादर–
में समस्त जग को लपेट कर, बंद कर दिए–
शतदल के कोमल पलकों को गोधूली में।

पथिक कि जिसकी यात्रा पूरी हो न सकी हो,
रिक्त हो गया हो परन्तु पाथेय बीच में,
वस्त्र फटे औ मलिन हुए हों धूलिकणों से,
और शक्ति साहस भी जिसका क्षीण हो चला।
उसकी लज्जा औ दरिद्रता दूर करो अब,
और पुनर्जीवित कर दो नव पुष्प सदृश तुम,
अपनी रजनी की ऐसी उदार छाया में।

● ● ●

२५. शिथिल अंग रजनी की निद्रालस बाहों में

शिथिल अंग रजनी की निद्रालस बाहों में,
निर्विरोध अब मुझे समर्पित हो जाने दो।
अपना दृढ़ विश्वास तुम्हारे ऊपर रखकर।

उचित नहीं मैं ढीले मन से तेरी पूजा–
हेतु उपक्रम सप्रयास कुछ करूँ इस समय।

अरे! तुम्हीं तो दिन के थके हुए पलकों पर,
रजनी का आवरण डालते मात्र इसलिये–
पुनर्नवीन दृष्टि देकर सम्पन्न कर सको,
हर्षोल्लास भरे ताजेपन में जागृति के।

● ● ●

२६. वह आए औ बैठे रहे पास ही मेरे

वह आए औ बैठे रहे पास ही मेरे,
किन्तु न टूटी मेरी तन्द्रा।
मै हतभागा ! कैसी वह अभिशप्त नींद थी।

वह आए निस्तब्ध निशा की नीरवता में,
और सँभाले हुए हाथ में अपनी वीणा।
सपनों में मेरे बजती रागिनी उसी की।

मेरी सब रातें ऐसे क्यों नष्ट हो रहीं।
रह जाता हूँ क्यों वंचित उसके दर्शन से।
श्वास स्पर्श उसकी पाती जब मेरी निद्रा।

● ● ●

२७. अरे कहाँ आलोक, दिव्य आलोक कहाँ है

अरे कहाँ आलोक, दिव्य आलोक कहाँ है,
इसे जगाओ इच्छाओं की अग्नि जलाकर।

दीपक तो है पास किन्तु लौ से विहीन है,
कैसा यह दुर्भाग्य प्राप्त जो मुझे हुआ है।
वरण मृत्यु का कहीं श्रेष्ठ होगा इससे तो।

मँडराती दुख विपदा तेरे दर पर है यह,
देती सी संदेश कि तव स्वामी जागृत है।
और प्रणय के लिए तुम्हें आवाज दे रहा,
नीरव रात्रि प्रहर के ऐसे अंधकार में।

मेघाच्छन्न गगन, वर्षा घनघोर हो रही,
ऐसे में यह क्या है जो करता उद्वेलित,
मम अन्तर में – और अर्थ क्या–
है इसका जानूँ कैसे मैं।

तड़ित्प्रकाश एक क्षण का आवरण डालता–
गुरुतर पीड़ा का मेरे इस छुद्र दृष्टि पर।
और हृदय मम पाने को उस राह भटकता,
जहाँ बुलाता रजनी का संगीत मुझे है।

अरे कहाँ आलोक, दिव्य आलोक कहाँ है।
इसे जगाओ इच्छाओं की अग्नि जलाकर।

यह करता है गर्जन तीव्र पवन सन सनकर,
चलता है पुकार करता सा खालीपन में।
श्याम निशा है, ऐसी जैसे श्याम शिला हो।
बीत न जाने दो ये घड़ियाँ अन्धकार में,
दीप स्नेह का करो प्रज्ज्वलित निज जीवन से।

● ● ●
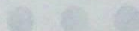
२८. बड़ी हठीली बाधाएँ हैं किन्तु हृदय में –

बड़ी हठीली बाधाएँ हैं किन्तु हृदय में–
पीड़ा होती जब मैं उन्हें तोड़ने जाता।

मुक्ति इष्ट है मेरा पर इसकी आशा में–
रहना मुझको लज्जाजनक बहुत लगता है।

मै निश्चित जानता तुम्हारे भीतर ही तो,
विपुल और अनमोल सर्व सम्पदा भरी है।
और श्रेष्ठतम तुम्हीं एक हो मित्र हमारे।
तब भी मुझमें दृढ़ता नहीं कि मैं निज गृह से,
सब आडम्बर को बुहार कर साफ कर सकूँ।

जो आवरण पड़ा मुझ पर वह मरण सदृश है।
किन्तु इसे ही गले लगाए मैं फिरता हू,
किसी मोहवश यद्यपि इससे घृणा मुझे है।

भारी ऋण मुझ पर असफलताएँ अनेक हैं,
और शर्म प्रच्छन्न किन्तु गंभीर बहुत है।
निज कल्याण कामना लेकर पर जब भी मैं–
जाता पास तुम्हारे यह डरता रहता हूँ–
कहीं न रह जाए मेरी याचना अस्वीकृत।

●●●

२६. जिसे घेर कर रखता हूँ निज नाम कीर्ति से

जिसे घेर कर रखता हूँ निज नाम कीर्ति से,
वही बंद इस काल कोठरी में रोता है।

अपने इर्द गिर्द मैं यह दीवार बनाता–
बड़े जतन से और बड़ा गर्वित रहता हूँ।
पर ज्यों–ज्यों ऊँची होती दीवार यही तब
मेरा असली रूप दृष्टि से ओझल होता
इसके ही काली–काली छाया में पड़कर।

यह विशाल दीवार मुझे गर्वित करती है,
और इसे भरता रहता मैं धूल–रेत से–
ताकि छिद्र छोटा भी रह जाए न नाम में।

किन्तु अनन्तर मेरे इन सारे यत्नों के,
हो जाता अदृश्य मेरा असली स्वरूप ही।

● ● ●

३०. मैं निकला एकाकी मिलन–स्थल के पथ पर

मैं निकला एकाकी मिलन–स्थल के पथ पर,
किन्तु कौन यह जो पीछे–पीछे आता है,
नीरव निविड़ निशा के ऐसे अन्धकार में।

मैं हटता हूँ एक ओर उस पर न ध्यान दे,
किन्तु न उससे अपना पिण्ड छुड़ा पाता हूँ।

इठलाता वह धरती कम्पित करता चलता,
बात बात में अपनी बातें ऊपर रखकर।

मेरे प्रभु। यह अन्य नहीं मैं तुच्छ स्वयं हूँ।
इसे लाज या शर्म नहीं पर मैं लज्जित हूँ,
जो आया हूँ द्वार तुम्हारे साथ इसी के।

● ● ●

३१. बन्दी, बतलाओं किसने तुमको बाँधा है

'बन्दी', बतलाओ किसने तुमको बाँधा है।
'मेरे स्वामी' ने बोला बन्दी उत्तर में।

मैंने सोचा मैं कर दूँगा मात सभी को,
इस दुनिया में शक्ति और धन के संचय में,
और विपुल धन से निज कोषागार भर दिया,
निस्संशय सब कुछ जो था मेरे स्वामी का।

निद्रा ने जब घेर लिया तब शयन हेतु मैं,
लेट गया उस शय्या पर जो था स्वामी का,
किन्तु जगा जब तब मैने पाया अपने को,
बना हुआ बन्दी अपने ही धनागार में।

बन्दी ! बतला किसने निर्मित किया इसे है,
अविच्छेद्य जंजीर कि जिसमें बंधे पड़े तुम।
बोला बन्दी मैंने ही तुरन्त उत्तर में।
मैंने ही जंजीर गढ़ी यह बड़े चाव से,
मैंने सोचा मेरी अपराजेय शक्ति यह,
बॉधेगी समग्र जग को रखकर निर्वाधित,
मेरी स्वच्छन्दता और मेरी स्वतन्त्रता।

इस प्रकार ले उग्र अग्नि, आघात वज्र सम,
हुआ व्यस्त निशिदिन जंजीर बनाने में मैं।
किन्तु अन्ततः जब समाप्त सब कार्य हो गया,
अविच्छेद्य सारी कड़ियाँ भी जोड़ ली गईं,
मैंने पाया निज को जकड़ा हुआ इसी में।

● ● ●

३२. मुझे सुरक्षित रखने हेतु उपाय हर तरह

मुझे सुरक्षित रखने हेतु उपाय हर तरह,
करते वे जग में जो प्यार मुझे करते हैं।

किन्तु ठीक विपरीत प्यार में स्थिति तुम से है।
प्यार तुम्हारा अन्य प्यार से बहुत बड़ा है,
किन्तु सदा ही तुम मुझको स्वतन्त्र रखते हो।

पर भय से वे मुझे अकेला छोड़ न पाते,
कि मैं कहीं उनको भूले से भूल न जाऊँ।
दिन पर दिन व्यतीत होते जाते हैं लेकिन,
कहीं नहीं तुम मुझको दिखलाई पड़ते हो।

यदि न प्रार्थनाओं में भी मैं तुम्हें पुकारूँ,
और न रक्खूँ भी तुमको निज हृदय स्थल में,
प्यार तुम्हारा फिर भी मेरे प्यार के लिये,
करता रहता है सदैव ही मौन प्रतीक्षा।

● ● ●

३३. मेरे घर वे आए दिन की उज्ज्वलता में

मेरे घर वे आए दिन की उज्ज्वलता में,
बोले 'सबसे छोटे कमरे में रहने दें।'
रहकर यहाँ तुम्हारे ईश्वर की पूजा में,
हम सहायता देंगे पर लेंगे उतना ही,
ईश्वर का प्रसाद जो आयेगा अपने हक।

एक किनारे कोने में तब बैठ गए वे,
बहुत शान्ति एवं विनम्रता को धारण कर।

किन्तु रात्रि के अंधकार में देखा मैंने,
वे मेरे पवित्र आश्रम में घुस आते हैं
बलपूर्वक अति उग्र भयानक रूप बनाकर।
और छीन ले जाते हैं अति तुच्छ लोभ में,
चढ़ा हुआ बेदी पर ईश्वर को अर्पित धन।

● ● ●
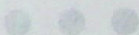
३४. मेरा छोटा वही अंश ही बचा रहे अब

मेरा छोटा वही अंश ही बचा रहे अब,
जिससे मैं कह सकूँ कि तुम मेरे सब कुछ हो।

मेरे संकल्पों का वह लघु अंश बच रहे,
चारो ओर कि जिससे तुम अनुभूत हो सको।

पाऊँ तुमको ही अन्दर प्रत्येक वस्तु के,
और प्यार मेरा अर्पित हो तुमको हर क्षण।

मेरा छोटा वही अंश ही बचा रहे अब,
जिससे मैं तुमको न छिपाकर कभी रख सकूँ।

मेरे थोड़े से ही वे बन्धान रह जाएँ,
जिनके द्वारा बँधा रहूँ तेरी इच्छा से।

और उसी का पालन हो मेरे जीवन में,
बन्धन यह कुछ और नहीं बस प्रेम तुम्हारा।

● ● ●

३५. हों निर्भीक विचार जहाँ मस्तक ऊँचा हो

हों निर्भीक विचार जहाँ मस्तक ऊँचा हो,
ज्ञान जहाँ हो मुक्त विभक्त न हो यह दुनिया,
लघु खंडो में बँटकर सँकरी दीवालों से।

जहाँ फूटते शब्द सत्य की गहराई से;
जहाँ सफलता चरण चूमती सच्चे श्रम का।
जहाँ न्याय का स्रोत भ्रष्ट आचरण में न फँस,
कभी सूखता, अविरल रहता प्रवहमान है।

जहाँ विचार नियंत्रित कर तुम उन्हें मोड़ते,
कर्म और चिन्तन के नित्य विशाल क्षेत्र में,
पितः ! देश जागे मेरा इस मुक्ति स्वर्ग में।

● ● ●

३६. मेरी यह प्रार्थना सुनो हे मेरे स्वामी

मेरी यह प्रार्थना सुनो हे मेरे स्वामी।
करो समूल नष्ट मेरे उर की दरिद्रता।

मुझे शक्ति दो सुख–दुख अपना सहन कर सकूँ।
और शक्ति दो ताकि तुम्हारी सेवा में यह,
स्नेह तुम्हारे प्रति उपयोगी हो पाए कुछ।

मुझे शक्ति दो दीनों को विस्मृत न कर सकूँ,
और निरंकुश सत्ता के आगे न समर्पण।

मुझे शक्ति दो छुद्र विचारों का न स्पर्श हो,
और शक्ति दो ताकि शक्ति निज करूँ समर्पण,
तेरी ही इच्छा के आगे स्नेह सहित मैं।

● ● ●

३७. मैंने सोचा मेरी यात्रा पूर्ण हो चुकी

मैंने सोचा मेरी यात्रा पूर्ण हो चुकी,
अपनी क्षमता के अन्तिम सीमा पर आकर।

पथ मेरे समक्ष सहसा अवरुद्ध हो गया,
शेष रहा पाथेय भी न, औ समय आ गया,
किसी मौन अज्ञात अँधेरे में खो जाऊँ।

किन्तु चकित रह जाता हूँ यह देख देखकर,
मुझमें होता अन्त नहीं तेरी लीला का।
जिह्वा पर होती जब मौन पुरानी भाषा,
उठता कोई मधुर राग तब हृदय देश से।

और जहाँ होते विलुप्त सब मार्ग पुराने,
पथ मिल जाता किसी विलक्षण नये देश का।

● ● ●

३८. मैं तुमको चाहता और केवल तुमको ही

मैं तुमको चाहता और केवल तुमको ही,
बार–बार दुहराता रहे हृदय मेरा यह।
निशिदिन करतीं ध्यान भंग मेरी इच्छाएँ,
जो सब मिथ्या और वस्तुतः अर्थहीन हैं।

जैसे निशा छिपाए रखती एक याचना,
अपने अन्धकार में भी उज्ज्वल प्रकाश की,
वैसे ही मेरी निश्चेतनता के भीतर–
उठती कहीं पुकार कि मैं चाहता तुम्हें हूँ,
और चाहता तुमको ही केवल तुमको ही।

करता हुआ प्रहार शान्ति पर किन्तु अन्ततः
जैसे शान्ति खोजता रहता प्रबल प्रभंजन।
उसी भाँति मेरा विद्रोह प्रताड़ित करता,
उसी प्रेम को जिसे दिया तुमने मुझको है।
फिर भी इसका क्रन्दन है, मैं तुम्हें चाहता,
और चाहता तुमको ही, केवल तुमको ही।

● ● ●

३६. जब कठोर औ शुष्क हृदय मेरा हो जाए

जब कठोर औ शुष्क हृदय मेरा हो जाए,
करुणा की बौछार करो तब मेरे ऊपर।
जीवन से आकर्षण जब समाप्त हो जाए,
एक मधुर संगीत साथ लेकर तुम आओ।
जग के कामों का कोलाहलमय कर्कश रव,
धूल उड़ाता जोर शोर से सभी ओर से,
जब कर दें आच्छादित मुझको वाह्य लोक से,
आ जाओ मेरे समीप हे शान्ति दूत तब,
ले विश्रान्ति–शान्ति अपनी कल्याणमयी तुम।

भिक्षुक सा जब मेरा हृदय किसी कोने में,
बन्दी बनकर सिकुड़ा बैठा हुआ मिले तो,
मेरे राजन्! द्वार तोड़कर आ पहुँचो द्रुत,
ठाट–बाट राजसी लिये सम्राट सदृश तुम।

इच्छाएँ अन्धी कर दें मेरी प्रवृत्ति जब,
मोहजाल में पड़ भ्रम और भुलावों के सब,
ओ पवित्र ओ जाग्रत देव न रुको कहीं तुम,
आओ निज आलोक और गर्जन ले सत्त्वर।

● ● ●

४०. मेरे उर के ऊसर धरती को हे भगवन्

मेरे उर के ऊसर धरती को हे भगवन्।
वर्षा ने वंचित रक्खा है दीर्घकाल से।

नग्न हुआ आकाश भयानक सा दिखता है।
सूक्ष्म आवरण भी बादल का शेष नहीं है,
और न हल्का सा भी है संकेत वृष्टि का।

ऐसे में यदि यही तुम्हारी इच्छा हो तो,
क्रुद्ध काल सम तुम अपना तूफान बुला लो,
तड़ित्प्रकाश सहित जो कर दे चकाचौंध नभ।

पर वापस लो, मेरे स्वामी! वापस ले लो,
क्रूर कुटिल बढ़ता जाता जो ताप भंयकर,
और जलाता है उर को भर धोर निराशा।

करुणा के बादल थोड़ा नीचे झुक जाएँ,
सजल नयन माँ जैसे बच्चे को निहारती,
भयाक्रान्त जो बना लक्ष्य हो क्रुद्ध पिता का।

●●●

४१. सबके पीछे कहाँ खड़े तुम प्रियतम मेरे

सबके पीछे कहाँ खड़े तुम प्रियतम मेरे,
छायाओं के तले छिपाए हुए स्वयं को।

समझ अवांछित तत्व तुम्हें वे हैं घसीटते,
कर अपमान घुमाते धूल भरी सड़कों पर।

बिता रही मैं समय प्रतीक्षा में अति दुस्तर,
फैलाए अपने उपहार सामने तेरे।

एक एक कर फूल किन्तु सब पथिक चुन लिए,
और हुआ खाली सा मेरा पुष्प थाल भी।

बड़ा कठिन बीता प्रभात मध्यान्ह का समय
साँझ तले अब पलकें निद्रा से बोझिल हैं
निज गृह जाते जन सब मुझ पर दृष्टि डालते,
और मुस्कराते तब मुझे शर्म लगती है।

आँचल में मुख छिपा एक भिक्षुक बाला सी
मैं बैठी हूँ किन्तु पूछते जब वे मुझ से –
'तुझे चाहिए क्या' तब मैं नीचे दृग करके–
रह जाती हूँ और न कुछ उत्तर देती हूँ।

काश! कि उनको बतलाना संभव होता यह,
कि मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा में रत रहती,
और कि तुमने भी है वचन दिया आने को।

मुझे शर्म लगती मै यह कैसे बतलाऊँ,
दूँगी मैं अपने दहेज में यह दरिद्रता।
अहो! सुखद कितना यह मेरा गुप्त गर्व है।

बैठ तृणों पर दृष्टि गगन की ओर किए मैं,
देखा करती स्वप्न भव्य तेरे आने का।

सहसा हुआ प्रकाश, प्रकाशित स्वर्ण–ध्वजाएँ
फहर रहीं उस रथ पर जिस पर तुम आते हो।
रह जाते अवाक् सब राही देख दृश्य जब,
तुम अपने आसन से नीचे उतर धूल से,
मुझ जैसे इस जीर्ण शीर्ण भिक्षुक बाला को,
स्वयं उठाकर अपने पास बिठा लेते हो
लज्जा और गर्व से जिसका कम्पित तन है,
जैसे कोई लता काँपती ग्रीष्म पवन में।

किन्तु समय बीतता जा रहा और अभी तक,
ध्वनि न सुनाई पड़ी तुम्हारे रथ चक्रों की।
गुजर गईं कितनी शोभा यात्राएँ पथ से,
कोलाहल, प्रकाश जगमग यश वैभव लेकर।

क्या केवल बस तुम्हीं खड़े रह जाओगे अब,
छायाओं के तले मौन इन सबके पीछे।
और अकेले क्या मैं करती रहूँ प्रतीक्षा,
रोती हुई, टूटता उर औ व्यर्थ साध ले।

● ● ●

४२. दिन में हम दोनों ने गुप्त मंत्रणा की यह

दिन में हम दोनों ने गुप्त मंत्रणा की यह
एक नाव पर निरुद्देश्य हम निकल पड़ेंगे,
और न तृण तक को भी पता लगेगा इसका,
गए तीर्थ यात्रा पर हम किस दिशा कहाँ पर।

उस तटहीन महोदधि में मुस्कान मौन ले,
तुमको श्रोता पाकर मेरे गीत उड़ेंगे।
नये नये रागों में लहरों सा स्वतन्त्र हो,
और निकलकर शब्दों के घेरे से बाहर।

समय नहीं क्या हुआ अभी तक और अभी भी,
करने को क्या काम बहुत से पड़े हुए हैं?
देखो उतर रही संध्या सागर तट पर है,
और धुँधलके में पक्षी उड़ते नीड़ों को।

कौन जानता कब यह लंगर खुले और यह,
नौका चल दे, आँखों से ओझल हो जाए,
होते हुए अस्त रवि के अन्तिम प्रकाश सा।

● ● ●

४३. मैंने किया न था उस दिन कोई आयोजन

मैंने किया न था उस दिन कोई आयोजन,
मेरे राजन् !
तेरे लिए, आ गए तुम फिर भी अनिमन्त्रित,
साधारण अज्ञात व्यक्ति सा भीड़ बीच से।
और अनेक सुखद मेरे जीवन क्षण पर तुम,
अपनी छाप अनश्वरता की छोड़ गए हो।

आज अचानक जब, उनको उज्ज्वल प्रकाश में,
लाता और देखता हूँ तेरा हस्ताक्षर,
मैं पाता हूँ उनको बिखरा हुआ धूल में,
मिला हुआ भूली सी सुख दुख की स्मृतियों में।

तनिक न रुष्ट हुए तुम मेरे किसी खेल पर,
बच्चों सा खेलता रहा मैं जो कि धूल में।
और वही पद–रव जो सुनता क्रीड़ा स्थल में,
होते है प्रतिध्वनित बीच अब नक्षत्रों के।

● ● ●

४४. मुझे बड़ा आनन्द कि ऐसे करूँ प्रतीक्षा

मुझे बड़ा आनन्द कि ऐसे करूँ प्रतीक्षा,
और देखता रहूँ राह पर चलती छाया,
जो प्रकाश का पीछा करती चली आ रही,
और आ रही हो वर्षा ग्रीष्मावसान पर।

अनजाने आकाशों से संवाद लिए ये,
वाहक संदेशों के करते मेरा वंदन,
और चले जाते द्रुतगति से अपने पथ पर।

भीतर से है बहुत प्रफुल्लित यह मेरा मन,
साँसो से मधु गंध बिखरता मन्द पवन के।
प्रातः से संध्या तक यहाँ द्वार पर अपने,
लेकर यह विश्वास बैठता हूँ कि अचानक,
मधुर घड़ी आए कब जब मैं देख सकूँगा।

तब तक एकाकी ही गाता मुस्काता हूँ,
और फैलती स्वीकृति सी मधु गन्ध -वायु में।

● ● ●

४५. सुना नही पदचाप मौन क्या तुमने उसकी

सुना नही पदचाप मौन क्या तुमने उसकी
वह आता, आता है और सदा आता है,

हर क्षण औ हर काल हर दिवस और रात हर,
वह आता, आता है और सदा आता है।

मन की विविध तरंगों में मैंने गाए हैं
गीत बहुत पर सबके स्वर करते उद्घोषित,
वह आता आता है और सदा आता है।

उजले वासन्ती दिन में, सुरभित वनपथ से,
वह आता, आता है और सदा आता है।

पीड़ा भरी श्रावणी वर्षा की रातों में,
गर्जन करते हुए बादलों के रथ पर चढ़,
वह आता, आता है और सदा आता है।

दुख पर दुख आए परन्तु ऐसे में ही तो,
मेरा हृदय दबा जाता उसके पदरव से।
और उसी का चरणस्पर्श स्वर्णिम पाकर बस,
मेरा सब सुख पा जाता चरमोत्कर्ष है।

● ● ●

४६. मुझे नहीं मालूम, युगों से कितने ही तुम

मुझे नही मालूम, युगों से कितने ही तुम,
मेरे निकट आ रहे हो मिलने को मुझ से।

नहीं छिपा सकते नक्षत्र सूर्य तेरे ये–
तुमको मुझसे नजर बचाकर बहुत समय तक।

बीते दिन अनेक जब साँझ सबेरे तेरे,
सुने गए पदचाप और संदेश तुम्हारा–
लेकर आया दूत तुम्हारा गुप्त रूप से।

मुझे नहीं मालूम आज क्यों मेरा जीवन,
इतना उद्वेलित है पर अनुभूति सुखद वह,
जो कि हृदय के पोर पोर में समा गई है।

लगता समय आ गया कर दूँ बन्द काम सब,
क्योंकि मुझे होता आभास फैलती तेरी–
मधुर उपस्थिति की फीकी सी गन्ध वायु में।

●●●

४७. व्यर्थ प्रतीक्षा में उसके रजनी बीती है

व्यर्थ प्रतीक्षा में उसके रजनी बीती है
मुझको डर है आ जाये न अचानक ही वह,
बड़े सबेरे मेरे द्वार और पाए यह
थककर गहरी निद्रा में मैं सुप्त पड़ा हूँ।

मित्रो! उसके लिये रास्ता खुला छोड़ दो,
और न रोको ही आने को उसे यहाँ तुम।

यदि न जाग पाऊँ मैं सुनकर उसकी पगध्वनि
मुझे जगाने का तुम करोप्रयत्न न कोई,
मेरी यह विनती है तुमसे हाथ जोड़कर।

नहीं चाहता जागृति विहगों के कलरव से,
या प्रभात–कालीन ज्योति के पर्व काल में
करता सा विद्रोह पवन भी मुझे न छेड़े।
सोने दो निर्विघ्न मुझे आ जाँय भले ही,
मेरे स्वामी अकस्मात् इस दरवाजे पर।

मेरी निद्रा, मूल्यवान यह मेरी निद्रा,
अरे व्यग्र है जाने को पा स्पर्श उसी का।
और बन्द मेरे ये नयन खुलेंगे बस तब
जब आलोक मिलेगा उन्हें उसी की स्मिति का
जो निद्रा के तम से बाहर आ सपनों सा
खड़ा अचानक मेरे सम्मुख हो जाये यों
ताकि अन्य आकृति अथवा प्रकाश के पहले,
मुझे दृष्टिगोचर हो जाए सर्वप्रथम वह।

हो सुख की अनुभूति विलक्षण प्रथम तभी जब,
मेरे जाग्रत प्राणों को उसके दर्शन हों।
फिर मेरा निज तक वापस आना बन जाए
उसके पास पहुँचने के ही सम द्रुतगति से।

● ● ●

४८. प्रातः बेला की नीरवता के सागर में

प्रातः बेला की नीरवता के सागर में,
उठने लगीं ऊर्मिया बिहगों के कलरव की।
अति आनन्द विभोर प्रसून लगे होने सब,
लगे हुए थे जो कि किनारे राजमार्ग के।
और बिखरने लगी स्वर्ण सम्पदा चतुर्दिक,
निकल निकल कर फटे बादलों की दरार से।
किन्तु व्यस्त हम चलते रहे न ध्यान उधर दे।

हर्ष विभोर न हो कर गाए गीत एक भी,
खेले खेल न और गाँव की हाट ही गए।
न तो शब्द बोले कोई या हँसे कहीं भी,
और राह में रुके कहीं भी नहीं एक क्षण।
द्रुत द्रुततर पदचाप बढ़ गए साथ समय के।

चढ़ता गया सूर्य ऊपर आकाश मध्य तक
और कपोत बोलने लगे विटप छाया में।
बिखरी हुई पत्तियाँ उड़–उड़ लगीं नाचने,
चक्कर खाकर दोपहरीं की गर्म हवा में।
चरवाहा बालक बट वृक्ष तले निद्रालस,
सपनों में खो गया और जल के समीप मैं–
थके भुजाओं को पसार पड़ गया घास पर।

मुझ पर हँसते हुए चले सब मेरे साथी,
अपना सिर ऊँचा करके कर मुझे उपेक्षित।
और शीघ्रता में न रुके या देखे मुड़कर।
हुए विलीन दूर से धुँधले नीलेपन में।

खेतों गिरिश्रृंगों को करके पार बहुत से,
दूर अजाने कितने देशों से गुजरे वे।

तुम्हें सर्व सम्मान अतिथि सेवक महान जो,
इस अनन्त पथ के पथिकों का करते स्वागत।

विचलित करना चाहा निन्दा और व्यंग्य ने,
पर न प्रभावित कर पाये वे मुझे तनिक भी।

छोड़ दिया अब खो जाने के लिए स्वयं को,
उस गहराई में आनन्द जहाँ मिलता है,
बन जाने में हीन तनिक सुख की छाया में।
हरे हरे से हल्के तरु की जिस चादर पर,
रवि के किरणों द्वारा चित्रकला अंकित है,
ज्यों ज्यों तनता जाता उर विश्राम पा रहा।

भूल गया मैंने यात्रा किस लिए किया था,
और कर दिया निर्विरोध अर्पित निज मन को,
भूल भुलैया में पड़ छायाओं गीतों के।

और अन्त में गहरी निद्रा से जगकर जब,
खुले नयन मेरे तो पाया निकट तुम्हें ही,
करते हुए पराजित निद्रा को निज स्मिति से।

हाय! व्यर्थ मैं डरता रहा कि पथ लम्बा है,
और थकाने वाला है संघर्ष भी कठिन,
जिसके बना पहुँचना तुम तक असंभाव्य था।

● ● ●

४६. उतर राज सिंहासन से नीचे आए तुम

उतर राज सिंहासन से नीचे आए तुम,
और हो गए खड़े द्वार मेरी कुटिया के।

एकाकी गा रहा एक कोने में था मैं,
पड़ी कान में तान आ गए तब नीचे तुम,
और हो गए खड़े द्वार मेरी कुटिया के।

बड़े–बड़े आंचार्य तुम्हारे गान कक्ष में
विद्यमान हैं गीत जहाँ हर समय गूँजते,
पर इस नौसिखिए के इस आनन्द गान ने
जाने कैसे अर्जित किया प्यार तेरा है।

जो महान संगीत विश्व का, मिला उसी में,
एक करुण स्वर छुद्र और यह पुरस्कार सा,
एक पुष्प देने नीचे आ गए स्वयं ही,
और रह गए खड़े द्वार मेरी कुटिया के।

● ● ●

५०. भिक्षाटन के हेतु गाँव की राहों पर मैं

भिक्षाटन के हेतु गाँव की राहों पर मैं,
घूम रहा था तभी दिखाई पड़ा तुम्हारा
अति सुरम्य सपनों सा आता हुआ स्वर्ण रथ।
चकित सोचता रहा कौन राजाधिराज यह।

आशा बँधी कि अब दुर्दिन का अन्त निकट है,
और प्रतीक्षा मग्न हुआ भिक्षा पाने को,
जो बिन माँगे आज अभी मिलने वाली है,
और बिखरने को है धन सम्पदा धूल पर।

आकर स्यन्दन रुका वहीं मैं खड़ा जहाँ था,
और तुम्हारी दृष्टि पड़ी मेरे ऊपर तब।
उतरे तुम तुरन्त रथ से मुस्कान मधुर ले,
मुझे लगा मम भाग्य अन्ततः आज खुल गया।

तभी अचानक तुम पसार निज दक्षिण कर को,
बोले 'मुझको देने को क्या पास तुम्हारे'।
कैसा यह विनोद राजोचित अहो! कि तुमने
हाथ पसारा भीख माँगने को भिक्षुक से।

किंकर्तव्य विमूढ़ खड़ा मैं रहा अनिश्चित।
तत्पश्चात् खोल अपनी झोली धीरे से,
मैंने चुना न्यूनतम दाना एक अन्न का,
और दे दिया भिक्षा के निमित्त वह तुमको।

कितना बड़ा किन्तु मुझको आश्चर्य हुआ तब,
दिन बीता औ मैंने खोली झोली अपनी।

नहीं अन्न का वरन न्यून कण एक स्वर्ण का,
मिला अन्न की उस ढेरी में छिपा हुआ सा।
तब मैं रोया बहुत और कितना पछताया,
क्यों न किया मैने तुमको सर्वस्व समर्पित।

● ● ●

५१. दिन के काम हमारे सब सम्पन्न हो चुके

दिन के काम हमारे सब सम्पन्न हो चुके,
अंधकार अब गहरा होने लगा निशा का।
हमने सोचा आने वाले अतिथि आ चुके,
और गाँव के दरवाजे सब बन्द हो गए।
केवल कुछ ने कहा कि 'नृप आगमन शेष है।'
हम हँसकर बोले तब ''नहीं नहीं संभव यह',

ऐसा लगा कि जैसे दस्तक हुई द्वार पर,
हम बोले यह सिवा वायु के अन्य न कुछ भी।
और बुझा कर सारे दीपक चले शयन को
केवल कुछ ने कहा कि 'यह संदेश दूत है।'
फिर हम हँसकर बोले "नहीं वायु ही है यह।"

नीरव निविड़ निशा में फिर आई ध्वनि कोई,
निद्रालस समझा हमने गर्जन सुदूर का,
हिली धरा दीवालें डोली, खण्डित निद्रा,
केवल कुछ ने कहा कि ध्वनि यह रथ –चक्रों की,
निद्रित हम बोले कि 'नहीं, घनगर्जन ही यह'।

रात अँधेरी थी जब बजी अचानक भेरी,
आई फिर आवाज कि जागो देर करो मत।
कुछ ने कहा कि 'है दिखती वह राजपताका'
एक पाँव हो खड़े लगे तब हम पुकारने,
'अब विलम्ब के लिए तनिक भी समय नहीं है'।

हुआ आगमन नृप का किन्तु प्रकाश कहाँ है'?
पुष्पहार है कहाँ, कहाँ पर सिंहासन है
लज्जा की है बात, घोर लज्जा की है यह
कहाँ राज दरबार, कहाँ है सारी सजधज,?
कहा किसी ने तब कि 'व्यर्थ यह सारा क्रन्दन।

अरे! रिक्त कर से ही कर लो उसका स्वागत,
सूने घर में ही आमन्त्रण दो आने का।
दरवाजे खोलो, शंख–ध्वनि को होने दो,
गहन रात्रि के अंधकार में आज आ गए,
अपने सूने और अँधेरे घर के राजा।

गर्जन का रव धोर हो रहा है अम्बर में,
थर थर काँप रहा है तम यह तड़िज्ज्योति से।
अपनी फटी पुरानी वही चटाई लाओ,
और बिछाओ आदर सहित उसे आँगन में।
आज अचानक ही तूफान साथ में लेकर,
इस भयावनी रजनी के राजा आए है।

● ● ●

५२. तुमने पहना था जो पुष्पहार संध्या को

तुमने पहना था जो पुष्पहार संध्या को,
मैंने सोचा वही माँग लूँगी मैं तुमसे।
किन्तु न साहस जुटा सकी ऐसा करने को।
अतः भोर तक करती रही प्रतीक्षा तेरी,
जब तक तुम न गए थे ताकि प्राप्त कर पाऊँ,
पुष्पहार के छिन्न–भिन्न कुछ शेष अंश ही।
और भिखारी सी मैं सुबह–सुबह शैय्या पर,
लगी ढूँढ़ने पाने को दो एक पंखुड़ी।

किन्तु हाय! यह क्या जो मैं देखती यहाँ हूँ,
कैसी प्रणय निशानी जो पाई यह मैंने।
फूल मसाले न तो, न तो यह नीर सुगन्धित,
यह तो भीमकाय सी है तलवार तुम्हारी,
जो कि लपट सी लहक रही, विकराल वज्र सी।

तरुण प्रकाश प्रात का आता वातायन से,
और फैल जाता है वह तेरी शैय्या पर।
प्रात–विहग गाते–गाते यह पूछ रहे हैं,
'ओ नारी क्या पाया तूने हाय न कोई,
फूल–मसाले और न सुरभित नीर–कलश ही,
यह तो है तलवार तुम्हारी महा भयंकर।

मैं बैठी आश्चर्य चकित हो, और सोचती,
यह कैसा विचित्र तेरा उपहार मिला है।
समझ नहीं पाती मैं कहाँ छिपाऊँ इसको,
लज्जा आती इसको धारण करूँ कहाँ पर।

कृश शरीर है मेरा और मुझे यह चुभता,
जब मैं इसे दबाती हूँ निज वक्षस्थल पर।
पर गौरव जो मिला हृदय में सहन करूँगी,
पीड़ा का यह भार सदृश उपहार तुम्हारा।

मुझें न अब आगे भय होगा इस दुनियाँ में,
तुम विजयी होगे मेरे सब संघर्षों में।
तुमने भेजा मृत्यु साथ देने को मेरा,
मैं निज जीवन देकर उसका वरण करूँगी।

टुकड़े–टुकड़े काट डालने को मेरे सब–
बंधन, तेरी है तलवार साथ में मेरे।
और न मुझको अब कोई भय रहा जगत में।

सभी तुच्छ श्रृंगार आज मैं त्याग रही हूँ।
मेरे उर–सम्राट ! करूँगी अब न प्रतीक्षा,
छिप छिप रोदन, मृदु चितवन, संकोच छोड़ सब।

तुमने है तलवार दिया श्रृंगार के लिए,
अब गुड़ियों का सा श्रृगांर न होगा मुझसे।

● ● ●

५३. रत्न–जटित सुन्दर है बहुत तुम्हारा कंगन

रत्न–जटित सुन्दर है बहुत तुम्हारा कंगन,
तारों से चित्रित हीरक–मणि–मुक्ता सज़्जित।
रंग–बिरंगा और विनिर्मित कुशल करों से।

किन्तु और भी सुन्दर यह तलवार तुम्हारी,
मुझको लगती है, लेकर निज वक्र भंगिमा।
तड़िज्ज्योति सी चपल फैलते गरुड़–पंख सी,
और क्रुद्ध लालिमा लिए सूर्यास्त समय की।

कौंध–कौंध जाती कंपित तलवार तुम्हारी,
मरण पूर्व के जीवन गति की एक लपट सी।
बुझते हुए दीप की अन्तिम तीव्र ज्योति सी।

सुन्दर है तेरा कंगन मणि रत्न जटित पर,
वज्रपाणि तलवार तुम्हारी यह अद्भुत है,
क्योंकि चरम सौन्दर्य इसी की है रचना में,
दर्शन, चिन्तन दोनों ही जिसका भयप्रद है।

● ● ●

५४. मैंने कुछ न माँग की तुम से और न अपना

मैंने कुछ न माँग की तुम से और न अपना–
नाम बताया ही चुप चुप कानों में तेरे।
जब तुम चलने लगे खड़ी ही रही शान्त मैं।

कूप किनारे मैं एकाकी खड़ी वहाँ थी,
जहाँ पड़ रही थी तिरछी छाया विटपों की,
और नारियाँ सभी गई थीं चली वहाँ से,
भर–भर भूरे भूरे मिट्टी के सारे घट।

मुझे पुकारा उन सबने 'तुम साथ हमारे–
चलो सुबह अब गई दोपहर है आने को।'
किन्तु खड़ी रह गई हुई सी उदासीन मैं,
खोई हुँई अनिश्चित किसी मौन चिन्तन में।

मै न सुन सकी पगध्वनि तेरी जब आए तुम,
नयन तुम्हारे थे, उदास तुमने देखा जब,
थका हुआ स्वर था धीरे से जब बोले तुम,
'अहा! एक अनजान पथिक हूँ मैं अति प्यासा।'

दिवास्वप्न टूटे मेरे तब चौंक जगी मैं,
औ निज घट से तेरे अंजलि में डाला जल।

मर्मर स्वर पत्तों का हुआ तभी विटपों पर,
कोयल गाने लगी अँधेरी किसी गुफा से,
और बिखरने लगा मधुर सौरभ कदम्ब का,
आता हुआ राजपथ के उस दूर मोड़ से।

मैं लज्जा से मौन रह गई ख़ड़ी कि जब तुम–
लगे पूछने मेरा नाम बड़े उत्सुक हो।

अरे भला मैंने क्या किया तुम्हारे हित जो,
जिससे मैं बन सकूँ स्मरण के योग्य तुम्हारे
किन्तु तुम्हारी प्यास बुझाने हेतु तुम्हें जो–
जल दे सकी तुम्हें वह मैं न भूल पाऊँगी,
मेरे उर में बसी रहेगी स्मृति सदैव यह,
और घोलती सदा रहेगी एक मधुरता।

बहुत देर हो चुकी प्रात का समय गया अब,
धीमा पड़ने लगा पक्षियों का गायन–स्वर।
सर–सर करने लगे नीम के पत्ते ऊपर,
और बैठ चिन्तन में रत मैं चिन्तन–रत हूँ।

● ● ●

५५. 'हृदय उदास, नयन अब भी निद्रालस तेरे

हृदय उदास, नयन अब भी निद्रालस तेरे।

मिला नहीं सन्देश तुम्हें क्या कंटक–बन में,
फूल कर रहा शासन सारी सुन्दरता पर।
जागो जागो व्यर्थ समय को मत जाने दो।

प्रस्तर–पथ के एक छोर पर एक अछूते–
एकाकीपन के प्रदेश में मित्र हमारा–
रहता है एकाकी उसको छलो नहीं तुम।
जागो जागो व्यर्थ समय को मत जाने दो।

दोपहरी के तीक्ष्ण ताप से विकल व्यग्र हो,
कम्पित यदि आकाश हो रहा हाँफ हाँफ कर,
तृषा बढ़ाते हों अथवा जलते सिकता–कण।

फिर भी तनिक नहीं क्या हर्ष तुम्हारे उर में,
ज़ब–जब पाँव धरोगे तब तब पथ की वीणा–
क्या न करेगी पीड़ा का संगीत प्रवाहित।

● ● ●

५६. अतः मानता हूँ तुम हो आनन्दित मुझसे

अतः मानता हूँ तुम हो आनन्दित मुझसे,
और पूर्ण सब विधि है यह आनन्द तुम्हारा।
यह भी सत्य है कि नीचे आ मिले मुझे तुम।

सारे स्वर्गों के स्वामी ! यह प्रेम तुम्हारा,
कहाँ प्रवाहित होता यदि होता न यहाँ मैं।

सारे इस वैभव में तुमने मुझे बनाया–
अपना भागीदार और तेरी प्रसन्नता–
की हलचल है अन्तहीन मेरे अन्तरमें।
मेरे जीवन में करती जाती सदैव है–
तेरी इच्छा ग्रहण एक आकार नित्य प्रति।

तुम राजाधिराज होकर भी आवेष्ठित कर–
अनुपम सुन्दरता आए हो मुझे रिझाने।
इस निमित्त यह प्रेम तुम्हारा होकर विगलित,
होता एकाकार प्रेम में तव प्रेमी के,
और दृष्टिगोचर होते तुम हो विलीन उस–
पूर्ण मिलन की स्थिति में निज अस्तित्व भूलकर।

● ● ●

५७. ओ प्रकाश ! मेरा प्रकाश हाँ हाँ प्रकाश जो

ओ प्रकाश ! मेरा प्रकाश हाँ हाँ प्रकाश जो,
चुम्बन करता नयनों का फैलता विश्व में।
अथवा जो भर भर देता माधुर्य हृदय में।

करता है नर्तन जीवन के केन्द्रस्थल में–
वही प्रकाश और हे प्रियतम प्रेमडोर को–
देता है झकझोर और खुल जाता अम्बर,
पागल बनता पवन बिखरता हास धरा पर।

झुंड तितलियों के उड़ते आलोक–सिन्धु पर,
ऊर्मि–शिखर पर जिसके नर्तित जुही–मालती,
पाते हैं स्वर्णाभा मेघ प्रकाश–करों से
और लुटा देते अनगिन माणिक–रत्नों को।

पत्ते पत्ते अरे खिल उठे हर्ष–मग्न हो–
और विपुल आनन्द राशि यह बिखर पड़ी है।
डूब डूब जा रहे कूल हैं सुर–सरिता के–
प्रवहमान ऐसा आनन्द–सुधा–निर्झर है।

● ● ●

५८. हर्षोल्लास समस्त विश्व के हो एकत्रित

हर्षोल्लास समस्त विश्व के हो एकत्रित,
पा जाँए अभिव्यक्ति गीत में अन्तिम मेरे।

बहकर जिस आनन्द सिन्धु में आन्दोलित हो–
धरा ओढ़ती है आधिक्य हरी घासों का।
या जिससे हो मग्न नाचते विस्तृत जग में,
जीवन–मरण सरीखे दो जुडवाँ भाई हैं।
या आनन्द कि जब जीवन को जाग्र त–कम्पित–
करता अट्टहास सा चलता प्रबल–प्रभंजन।
या आनन्द छलकते आँसू के करा में जो–
है दृष्टव्य खुले पीड़ा के रक्त कमल पर।
और एक वह भी आनन्द कि जब रजकण में–
निज सर्वस्व मिटाकर कोई कहे न कुछ भी।

● ● ●

५६. हाँ यह है मालूम मुझे हे प्रियतम मेरे

हाँ यह है मालूम मुझे हे प्रियतम मेरे–
और नहीं कुछ बस यह केवल प्यार तुम्हारा।

स्वर्णरश्मियाँ नाच रही पत्तों पत्तों पर,
मेघ निठल्ले उड़ते जाते पार गगन के,
मन्द वायु कर स्पर्श देह शीतल करती है।

निर्झर सा आलोक झर रहा है प्रभात का,
तैर तैर जाते जिसमें, ये मेरे लोचन।
मेरा हृदय तुम्हारा यों संदेश पा रहा।

तेरा मुखमंडल ऊपर से झांक रहा है,
टिके नयन तेरे नीचे मेरे नयनों पर,
और हृदय ने मेरे छुआ चरण तेरा है।

● ● ●

६०. अन्तहीन संसारों के इस सागर–तट पर

अन्तहीन संसारों के इस सागर–तट पर,
बच्चों का यह लगा हुआ कैसा मेला है।

यह अनन्त आकाश दिख रहा ऊपर जड़वत्
और उग्र होता जाता नीचे चंचल जल।
अन्तहीन संसारों के इस सागर तट पर,
बच्चों का यह लगा हुआ कैसा मेला है।
शोर मचाते और नाचते गाते बच्चे।

गेह बनाते बालू से खेलते सीप से।
नाव बनाते गिरे और बिखरे पत्तों से।
फिर प्रसन्न हो उनको वे तैराते जल में।
बच्चे अपना खेल खेलने को पाए हैं,
अन्तहीन संसारों के इस सागर तट पर।

उनको आता नहीं तैरना जाल न बुनना।
गोताखोर लगा गोता मो्तियाँ ढूँढते,
व्यापारी व्यापार हेतु चलते जहाज पर
पर बच्चे पत्थर के टुकड़े एकत्रित कर,
पुनः उन्हीं को बिखराते है फेंक फेंक कर।
वे न खोज करते है छिपे हुए रत्नों की,
वे न जानते कैसे जाल बुना जाता है।

फेनिल अट्टहास करता सागर हर–हर कर
मृत्यु सदृश भीषण लहरें कुछ गीत सुनाती–
बिना अर्थ के बच्चों को जैसे कि लोरियाँ–

गाए माँ झूले में झुला–झुला बच्चों को।
सिन्धु खेलता है बच्चों से हँस हँस फेनिल।

अन्तहीन संसारों के इस सागर तट पर
बच्चों का यह लगा हुआ कैसा मेला है।
झंझावत घूमते हैं पथहीन गगन में
और डूबते चिन्हरहित जल में जहाज हैं
मृत्यु चतुर्दिक, किन्तु खेल में रत है बच्चे।

अन्तहीन संसारों के इस सागर–तट पर
बच्चों का यह एक विशाल लगा मेला है।

● ● ●

६१. शिशु के लोचन पर निद्रा जो आती जाती

शिशु के लोचन पर निद्रा जो आती जाती,
क्या कोई जानता कहाँ से वह आती है।

ऐसा सुनने में आया इसका निवास है,
उसी गाँव में जो परियों का वास–स्थल है,
बन की छाया मे जो है खद्योत प्रकाशित
और जहाँ दो कली खिली है आकर्षण की
आती नींद वहीं से लेने शिशु–दृग–चुम्बन।

निद्रित शिशु के अधरों पर मुस्कान खेलती,
क्या कोई जानता कहाँ उत्पन्न हुई वह,
हाँ ऐसा सुनने में आया गलते गलते–
शरत्मेघ के किसी कोर को स्पर्श मिल गया,
अर्द्ध चन्द्र के तरुण पीत आभा का कोमल,
एक ओस से धुले प्रात के सपनों में बस,
और वहीं उत्पन्न हुई मुस्कान मधुर यह।
–वह मुस्कान खेलती जो निद्रित शिशु मुख पर।

कोमल मधुर ताज़गी खिलती शिशु अंगो पर,
क्या कोई जानता कहाँ थी छिपी पड़ी वह ?
हाँ जब माता थी युवती तब उसके उर में,
थी यह व्याप्त सुकोमल–स्नेह –रहस्य बनी सी।
–कोमल मधुर ताज़गी खिलती जो शिशु–तन पर।

●●●

६२. जब–जब तेरे लिए खिलौने विविध रंग के

जब–जब तेरे लिए खिलौने विविध रंग के–
लाता हूँ मेरे बच्चे! समझता तभी मैं,
क्यों रंगो की छटा मेघ में या जल में है।
और फूल क्यों रंजित है अनेक रंगो में।
–जब जब देता मैं रंगीन खिलौने तुमको।

जब जब गाता तुम्हें नचाने हेतु तभी मैं–
पाता समझ कि क्यों संगीत पत्तियों में है,
या लहरें समवेत स्वरों में क्यों निज गायन–
अर्पित करतीं उस श्रवणातुर अवनि–हृदय को।
–नर्तन हेतु तुम्हारे जब–जब मैं गाता हूँ।

मधुर सुस्वादु वस्तुओं को जब मैं लाता हूँ,
तेरे इन लालची करों पर रख देने को,
तब जानता कि क्यों मधु सुमन–कटोरे में है,
और छिपाकर क्यों फल में रस भरा गया हैं।
–मधुर सुस्वादु वस्तुओं को जब मै लाता हूँ।

मै जब चुम्बन करता हूँ तेरा मुख मंडल,
पाने को मुस्कान तुम्हारी मेरे प्यारे।
निश्चित तब मैं पाता समझ कि क्या प्रहर्ष है
प्रात–प्रकाश सदृश जो अम्बर से झरता है,
या वह क्या आनन्द ग्रीष्म का मन्द पवन जो
देता है कर मधुर स्पर्श नेरे अंगो का।
–मैं जब चुम्बन करता हूँ तेरा मुखमंडल।

● ● ●

६३. तुमने परिचित मुझे कराया उन मित्रों से

तुमने परिचित मुझे कराया उन मित्रों से,
जिनके बारे में न अभी तक जान सका था।
तुमने स्थान घरों में दिया न जो मेरे थे,
लाए निकट दूर पर जो थे और बनाया–
अपना भाई उसे जो कि अजनबी व्यक्ति था।

कुछ अजीब सा लगता है मेरे इस मन को,
मुझे छोड़ना पड़ता जब अभ्यस्त बसेरा,
मैं भूलता हूँ कि मान लेता नवीन है–
बात पुराने की परन्तु तुम सदा मानते।

जन्म–मरण का चक्र पार करके इस जग में,
अथवा जग में अन्य जहाँ भी तुम ले जाते
बस हो तुम्हीं, तुम्हीं वह साथी एकमात्र इस–
अन्तहीन जीवन के, जो है सदा बाँधता
हर्ष डोर से मम उर को अज्ञात व्यक्ति से।

तुम्हें जान लेने पर नहीं पराया कोई
रह सकता तब दरवाजा कोई न बन्द हैं।
अहो! प्रार्थना मेरी तुम स्वीकार करो यह
कभी न खोऊँ मैं आनन्द स्पर्श का उसका
जो समस्त जग के हलचल में विद्यमान है।

● ● ●

६४. सरिता–तट के उस ढलान पर जहाँ खड़ी थीं

सरिता–तट के उस ढलान पर जहाँ खड़ी थीं
ऊँची ऊँची घासें मैंने प्रश्न किया यह।
भद्रे! कहाँ चली तुम दीप छिपा आँचल में,
सूना और बहुत अँधियारा है मेरा घर
तुम अपना दीपक दे दो मुझको उधार में।'
अपने कजरारे नैनों को वह तरेर तब,
मुझे घूरकर क्षण भर उस धुँधले प्रकाश में
बोली, मैं आई हूँ सरिता–तीर इसलिए,
ताकि दीप निज तैराऊँ बहती धारा में–
दिवस–प्रकाश क्षीण हो जाए जब पश्चिम में।
खड़ा अकेला तब ऊँची घासों के भीतर
मैं रह गया देखता क्षीण दीप की लौ को
व्यर्थ तिरोहित होती हुई साथ लहरों के।

बढ़ती रात्रि–प्रहर की नीरवता में फिर मैं–
पूछा भद्रे! जले प्रकाश तुम्हारे सारे,
तब फिर कहाँ चली तुम लेकर दीपक अपना,
सूना और बहुत अँधियारा है मेरा घर
तुम अपना दीपक दे दो मुझको उधार में।'
अपने कजरारे नैनों को वह तरेर तब,
मुझे घूरकर क्षण भर बोली हो शंकाकुल,
मैं आई हूँ अपना दीप समर्पित करने–
अम्बर को मैं खड़ा रह गया तब निहारता
जलता हुआ व्यर्थ वह दीपक रिक्त–स्थल में।

उस निश्चन्द्र मध्य रजनी के अन्धकार में,
मैंने पूछा, भद्रे लगा हृदय से अपने–
दीपक को तुम कौन खोज में लगी हुई हो,
सूना और बहुत अँधियारा है मेरा घर
तुम अपना दीपक दे दो मुझको उधार में।
ठहरी, तब वह क्षण भर को सोचती हुई कुछ
दृष्टि डालकर मुझ पर अन्धकार में बोली,
मै अपना प्रकाश लाई इसलिए यहाँ हूँ
करने को सम्मिलित दीपकों के उत्सव में।
और खड़ा देखता रहा मैं वह लघु दीपक
व्यर्थ कहीं खो गया दीपकों के जमघट में।

● ● ●

६५. कौन अमृत तुम खीच रहे हो मेरे ईश्वर

कौन अमृत तुम खीच रहे हो मेरे ईश्वर !
छलक रहा जो मेरे जीवन के प्याले से।

मेरे कवि! आनन्दमग्न क्या तुम होते हो
देख लोचनों से मेरे अपनी रचना को।
और निकट लग मेरे कर्ण–पटों के क्या तुम,
अपना ही शाश्वत संगीत सुना करते हो ?

मेरे मन में शब्द बुन रहा है तेरा जग
और तुम्हारा हर्ष घोल संगीत रहा है।
तुम अर्पित हो जाते मम प्रति सदा स्नेहवश
करते फिर अनुभव मुझ में निज पूर्ण मधुरता।

●●●

६६. रही प्रतिष्ठित जो मेरे अस्तित्व मूल में

रही प्रतिष्ठित जो मेरे अस्तित्व मूल में,
झलक और आभास–मात्र सी गोधूली की।
पा प्रभात–आलोक भी न जो हुई अनावृत
मेरे देव! वही अन्तिम उपहार–वस्तु है,
अन्तिम गीत सहित निज जिसे तुम्हे मैं दूँगा।

शब्दों ने तो बहुत निवेदन किया प्रणय का
विफल किन्तु वे रहे विजित कर सके न उसको
व्यर्थ हुई मनुहार मिलन को जो आतुर थी।

उसे हृदय के कोने में मैं सदा छिपाए–
देश–देश में कितना घूम चुका अब तक हूँ,

और उसी के इर्द गिर्द ही उठे गिरे हैं,
मेरें जीवन के समस्त उत्थान या पतन।

मेरे सभी क्रियाओं और चिन्तनों पर या,
मेरी गाढ़ी नींदों या सपनों के ऊपर
रहा उसी का है प्रभुत्व यद्यपि एकाकी,
और अलग वह सब से दूर रहा करती थी।

दस्तक दिया बहुत लोगों ने मेरे दर पर,
उसे माँगने पर वे लौटे सब निराश हो।

सारे जग में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था
देख सका हो उसको जो आमने सामने।
और रह गई वह अपने एकाकीपन में
सदा प्रतीक्षारत पाने को तेरी स्वीकृति।

● ● ●

६७. तुम्हीं नीड़ हो और तुम्हीं आकाश स्वयं हो

तुम्हीं नीड़ हो और तुम्हीं आकाश स्वयं हो
हे अभिराम! प्रेम ही है बस वही तुम्हारा,
जो कि वहाँ बाँधता नीड़ में है प्राणों को
भाँति भाँति के रंगो में ध्वनियों गन्धों में।

ऊषा लाती सुन्दरता का पुष्पहार है
स्वर्णथाल में डाल दाहिने कर में अपने
धीरे से जो धरती, धरती के मस्तक पर।

सन्ध्या चिन्हहीन पथ से आ मैदानों पर
चरती गायों से जो तब तक शून्य हो चला
लाती शान्ति वारि है शीतल स्वर्ण कलश में–
भरकर पश्चिम के विश्रान्ति–महासागर से।

भरने को उड़ान आत्मा के लिए किन्तु यह
विस्तृत सीमाहीन फैल आकाश रहा है
बिखरी जिसमें एक धवल–उज्ज्वल प्रदीप्ति है।
वहाँ न दिन या रात न तो आकार रंग ही,
और कभी भी नहीं शब्द भी कहीं नहीं है।

● ● ●

६८. उठा भुजाएँ निज आती रवि किरण तुम्हारी–

उठा भुजाएँ निज आती रवि किरण तुम्हारी–
मेरी इस धरती पर और द्वार मेरे ही–
सारे दिवस पड़ी रहती लेकर जाने को
तेरे चरणों पर उन मेघों को निर्मित जो,
मेरे अश्रुकणों, चीत्कारों औ गीतों से।

तुम आह्लादित होकर अपनी उत्सुकता में
आवृत करते अपना तारकमय वक्षस्थल–
उन धुँधले मेघों से जो अनन्त आकारों–
औ पत्तों में रंग बदलते से लगते .हैं।

इतना हल्का और फिसलने वाला है यह
कोमल, अश्रुपूर्ण, श्यामल रंगों वाला है,
जिसके कारण ही हे निर्मल! हे प्रशान्त! तुम,
इसको अपना प्यार दिए रहते सदैव हो।
और इसलिए ही आवरण हेतु है सक्षम–
तेरा वह प्रकाश उज्ज्वल लगता जो भयप्रद,
अपनी करुणा भरी सघन काली छाया से।

● ● ●

६६. मेरी शिरा शिरा में जीवन का प्रवाह जो

मेरी शिरा शिरा में जीवन का प्रवाह जो
निशिवासर होता है वही दौड़ता जग में
और नृत्य करता रहता लयबद्ध हुआ सा।

यह जीवन है, वही जो कि हो हर्षमग्न अति
धरा–धूलि से बाहर निकल निकल पड़ता है
और प्रकट होता बनकर असंख्य दूर्वादल।
या लहराता रहता है पत्तों फूलों में।

यह जीवन है वही झूलता जो रहता है
जन्म मरण के महासिन्धु रूपी झूले में,
लहरों सा उठता या गिरता सा प्रवाह में

मैं अनुभव करता कि मिला मेरे अंगों को–
गौरव जीवन–जग का स्पर्श प्राप्त करने को
और गर्व है मुझे युगों की ही जीवन गति
नर्तन है कर रही रक्त में मेरे इस क्षण।

● ● ●

७०. आनन्दित होना आनन्द भरे इस लय से

आनन्दित होना आनन्द भरे इस लय से
क्या यह तुम से भिन्न अन्य कुछ और वस्तु है।

इस आनन्द सिन्धु के भय प्रद भँवर मध्य यदि,
जाए दिया उछाल जहाँ टूटे खो जाएँ,
क्या यह तुमसे भिन्न अन्य कुछ और वस्तु है।

तीव्र वेग से आगे बढ़ती सभी वस्तुएँ
नाम न लेती रुकने का, पीछे न देखतीं
कोई शक्ति न उनको रोके रख सकती है
और निरन्तर वे आगे बढ़ती ही जातीं।

करती हुई नृत्य ऋतुएँ आती जाती हैं
मिला मिलाकर कदम तीव्र उस चंचल स्वर से।
रंग, सुरभि, संगीत झर रहा है निर्झर सा
अन्तहीन सोपान सदृश जो जुड़ा गगन से।
फैली यह आनन्दराशि फिर विखर–विखर कर
और हारकर तिरोभूत होती प्रतिक्षण है।

● ● ●

७१. मैं महानता धारण करने के प्रयत्न में

मैं महानता धारण करने के प्रयत्न में
रहता व्यस्त प्रदर्शन करता दिशा दिशा में।
इस प्रकार अपनी बहुरंगी छायाओं से,
ढकता तेज तुम्हारा तेरी ही मायावश।

तुम देते हो बाँट स्वयं को दो भागों में
फिर असंख्य स्वर में अपने दूसरे भाग को
स्वयं पुकार पुकार बुलाने भी लगते हो।
यही दूसरा भाग रूप पाया मुझ में है।

यह पुकार बन करुण गीत प्रतिध्वनित हो रही–
सारे अम्बर में विभिन्न रूपों वर्णों के–
मुस्कानों, आँसुओ, क्रन्दनों, आशाओं में।

लहरें उठतीं, गिरतीं स्वप्न टूटते बनते,
मुझमें ही आकर हो जाती हार तुम्हारी।

तुमने जो चित्रपट लगाया उस पर चित्रित–
हैं अनन्त आकृतियाँ निशिदिन के कूची से
पृष्ठभूमि में उसके स्थिर है तेरा आसन,
बुने हुए आश्चर्यजनक जिसमें रहस्य हैं–
अति दुरूह वक्रता लिए सारल्य छोड़ सब।

मेरा और तुम्हारा भव्य विराट रूप यह
छलक छलक पड़ता है इस विशाल अम्बर से
मेरे और तुम्हारे ही संगीत स्वरों से,

व्याप्त हो रही है सिहरन सम्पूर्ण वायु में।
और बीतते जाते हैं सारे युग यों ही,
मेरी तेरी आँखमिचौनी की क्रीड़ा में।

●●●

७२. अति आन्तरिक व्यक्ति यह तो है वही सदा जो

अति आन्तरिक व्यक्ति यह तो है वही सदा जो
जाग्रत करता रहता है मेरी सत्ता को–
देकर अपने गुप्त और गहरे स्पर्शों को।

यह हैवही कि जो कर देता है सम्मोहन–
इन नयनों पर, और खेलता हर्षमग्न हो,
मेरे हृदय–तन्तुओं से विभिन्न रागों में
भरकर आरोहण–अवरोहण हर्ष–व्यथा के।

यह है वही जाल बुनता जो इस माया का,
चकाचौंध करती जिसमें द्युति स्वर्ण–रजत की।
और नीलिमा हरीतिमा लहराती झिलमिल,
जिनके पत्तों में उसके झाँकते चरण हैं,
और जिन्हें कर स्पर्श भूलता मैं अपने को।

दिन आते हैं और बीत जाते हैं युग भी,
उद्वेलित करता पर वही सदा मेरा उर,
नाम रूप धर विविध, चरम सुख–दुख के क्षण में।

● ● ●

७३. सब कुछ करके त्याग मुक्ति की चाह न मुझको

सब कुछ करके त्याग मुक्ति की चाह न मुझको।

मुझे मुक्ति, आलिंगन करती सी लेपती है
बन्धन में बँधकर सहस्त्र आनन्दपाश के।

रंग–गन्धमय विविध वारुणी ले निज ताजी,
बूँद–बूँद तुम मेरे लिए सदा छलकाते।
भरते हुए लबालब मिट्टी का यह बर्तन।

मेरा यह संसार सजाकर निज सौ दीपक,
अलग अलग उनको प्रदीप्त कर तेरी लौ से,
रक्खेगा देहरी द्वार तेरे मंदिर के।

द्वार इन्द्रियों के न कभी मैं बन्द करूँगा।
दृष्टि श्रवण औ स्पर्श सदृश आनंद सर्व तब
ग्रहण करेगें दैवी यह आनंद तुम्हारा।

तब सारा भ्रम मेरा जलकर बन जायेगा–
एक हर्ष–आलोक और इच्छाएँ पककर,
ग्रहण करेगी रूप प्रेम का बन सुन्दर फल।

● ● ●

७४. हुआ दिवस–अवसान, धरा पर उतरी छाया

हुआ दिवस–अवसान, धरा पर उतरी छाया।
समय हुआ भर लाऊँ निज घट जलधारा से।

सान्ध्य–वात उत्सुक सुनता स्वर करुण वारि का,
अहो मुझे वह बुला रहा इस गोधूली में।
सूनी है हो चली गली कोई न पथिक है
पवन हो रहा तीव्र उठीं लहरें सरिता में।

मुझे नहीं मालूम कि क्या घर लौट सकूँगा।
ज्ञात न किससे परिचय का अवसर पाऊँगा।
दूर घाट छोटी सी उस नौका के ऊपर,
अपनी वीणा बजा रहा अज्ञात व्यक्ति वह।

● ● ●

७५. मर्त्य मानवों की सारी आवश्यकताएँ

मर्त्य मानवों की सारी आवश्यकताएँ
पूरी कर देते हैं ये उपहार तुम्हारे।
फिर भी ये लौटते तुम्हारे पास न कम हो।

सरिता कर निज काम नित्य का दौड़ लगाती
खेतों खलिहानों गाँवों से राह बनाती।
पर अपनी अजस्त्र धारा लेती समेट वह
तेरे चरणों के प्रक्षालन हेतु निकट जा।

पुष्प घोल देता माधुर्य समस्त वायु में
निज सुगन्धि से, पर अन्तिम सेवा तो इसकी
अपने को अर्पित करने में है तेरे प्रति।

तेरी पूजा कर दरिद्र होता न जगत् है।

कवि के शब्दों से मनभाया अर्थ लगाते
लोग सदा हैं पर उनका अंतिम आशय तो
करता है इंगित तेरी ही ओर निरन्तर।

७६. दिवस प्रति दिवस ओ मेरे जीवन के स्वामी

दिवस प्रति दिवस ओ मेरे जीवन के स्वामी
खड़ा रहूँगा मैं तेरे आमने–सामने।

दोनों हाथ जोड़कर ओ सब जग के स्वामी
खड़ा रहूँगा मैं तेरे आमने–सामने।

विस्तृत तेरे अम्बर के नीचे एकाकी,
शान्त और चुपचाप लिए इस दीन हृदय को
खड़ा रहूँगा मैं तेरे आमने–सामने।

तेरे इस श्रमशील जगत में जो अस्थिर है,
श्रम संधर्ष लिए मानव की भीड़–भाड़ में,
खड़ा रहूँगा मैं तेरे आमने–सामने।

और समाप्त काम जब मेरा हो जायेगा,
जग में ओ राजाधिराज तब मौन अकेला,
खड़ा रहूँगा मैं तेरे आमने–सामने।

● ● ●

७७. तुमको ईश्वर जान दूर मैं रहता तुमसे

तुमको ईश्वर जान दूर मैं रहता तुमसे,
मान न अपना तुम्हें, समीप न तेरे आता।
जान पिता सा चरणों पर मैं शीश नवाता
हाथ पकड़ता नहीं तुम्हारा सुहृद मित्र सा

मैं न पहुँचता वहाँ उतरते जहाँ कि हो तुम
और न अपनाता हूँ तुम्हें लगाकर उर से
अपना अति सन्निकट सखा सा तुम्हें मानकर।

तुम्हीं सगे भाई मेरे भाइयों बीच हो
किन्तु किसी की कोई मैं परवाह न करता
मैं न कमाई अपनी उनके बीच बाँटता
मैं न इस तरह तेरे साथ बाँटकर खाता।

साथ न देता हूँ मैं लोगों के सुख–दुख में,
इस प्रकार मैं साथ न तेरा भी देता हूँ।
अपना–जीवन अर्पित करने से मैं बचता
और न पाता डूब गहन जीवन के जल में।

●●●

७८. जब निर्माण नया था जग का और सितारे

जब निर्माण नया था जग का और सितारे,
चमक उठे थे अपनी प्रथम प्रदीप्ति प्राप्त कर।
हो कर एकत्रित देवों ने तब अम्बर में
एक सभा की और गीत मिलकर यह गाया
'क्या अभिराम चित्र है यह सम्पूर्ण सर्वविधि
एक पूर्ण आनन्द न निर्मित जो खंडों में।'

किन्तु अचानक एक उच्च स्वर में यह बोला
'लगता टूट गई है कहीं प्रकाश की कड़ी,
और सितारा एक उसी में कहीं खो गया'।

टूट गया उनकी वीणा का तार सुनहला
गान रुक गया और चकित से चिल्लाए वे
'जो तारों में सर्वश्रेष्ठ था वही खो गया
सत्य कहें वह गौरव था सब स्वर्ग लोक का'।

उस दिन से ही चली आ रही खोज निरन्तर
उस तारे के लिए और फैली यह जन श्रुति
खोकर वह तारा जग ने खो दिया एक सुख।

किन्तु गहनतम निविड़ निशा की नीरवता में
सदा मुस्कराते तारे मिल मिल आपस में
कानों कानों कहते हैं सब व्यर्थ खोज यह
अविच्छिन्न यह सृजन पूर्ण व्यापक सब विधि है।

● ● ●

७६. यदि न भाग्य में था मेरे कि मिलूँ मैं तुमसे

यदि न भाग्य में था मेरे कि मिलूँ मैं तुमसे–
इस जीवन में, तो मैं रहूँ समझता ऐसा,
मैं वंचित रह गया दृष्टि का दान न पाकर।
भूलूँ मैं न एक क्षण भी औ वहन करूँ यह,
दुख का दर्द स्वप्न अथवा जाग्रत घड़ियों में।

जैसे जैसे मेरे दिन व्यतीत होते हैं
भीड़ भाड़ वाले बाजार बीच इस जग में
और हाथ बढ़ते जाते दैनिक समृद्धि पा,
तो भी मैं समझूँ कि हुई उपलब्धि न कोई
भूलूँ मैं न एक क्षण भी औ वहन करूँ यह
दुख का दर्द स्वप्न अथवा जाग्रत घड़ियों मे।

थका हॉफता सा जब बैठूँ राह किनारे
फैलाकर अपनी चादर नीचे जमीन पर
सदा समझता रहूँ यही मैं अपने मन में
पड़ा सामने अब भी सफर बहुत लम्बा है।
भूलूँ मैं न एक क्षण भी औ वहन करूँ यह
दुख का दर्द स्वप्न अथवा जाग्रत घड़ियों में।

सजा दिए जाएँ मेरे घर–द्वार और जब
बजने लगे वेणु गुंजित हो अट्टहास–स्वर
रहूँ समझता तब भी यह सदैव निज मन में,
मैंने नही निमंत्रित किया तुम्हें अपने घर।
भूलूँ मैं न एक क्षण भी औ वहन करूँ यह
दुख का दर्द स्वप्न अथवा जाग्रत घड़ियों में।

● ● ●

८०. शरत्मेघ का मैं अवशिष्ट एक टुकड़ा सा

शरत्मेघ का मैं अवशिष्ट एक टुकड़ा सा,
निरुद्देश्य नभ में हूँ घूम रहा, मेरे रवि!
ओ मेरे आदित्य! सदा शाश्वत गौरवमय।

विगलित वाष्प न मेरा अब तक हो पाया हे
पाकर तेरा स्पर्श प्रभा में आत्मसात् हो,
और इस तरह बीत रहे हैं वर्ष मास सब
गिन गिन तुम से दूर विलग होकर ये मेरे।

हो यदि इच्छा और यही हो खेल तुम्हारा
बढ़ती हुई रिक्तता यह मेरी तुम ले लो
और भरो इसमें रंगों को मढ़ो स्वर्ण से
तैरा दो फिर इसे हवाओं पर आवारा,
और करो प्रसरित विभिन्न अचरज में जग के।

और पुनः जब तेरी हो जाए यह इच्छा
करने को समाप्त यह सारा खेल निशा में
मैं विलीन तम में हो जाऊँगा गल गलकर
अथवा अन्तर्हित मुस्कान भरे उस उज्ज्वल,
शुद्ध पारदर्शी प्रभात की शीतलता में।

● ● ●

८१. बीते हैं जब भी अनेक मेरे खाली दिन

बीते हैं जब भी अनेक मेरे खाली दिन
समय गवाँकर व्यर्थ बहुत मैं पछताया हूँ।
पर न गया है कभी निरर्थक यह, मेरे प्रभु।
तुमने ही ले लिया स्वयं अपने हाथों में,
बीत रहे क्षण क्षण जो हैं मेरे जीवन के।

रहकर तुम प्रच्छन्न वस्तुओं के हृदयों में
बल प्रदान करते कि बीज अंकुर बन जाये।
कली फूल बन खिले, फूल परिणत हो फल में।

थका सो रहा था मैं निज खाली शय्या पर,
सोच सोच कर यह कि काम सब बन्द हो गए।
हुआ प्रभात और जागा तो मैं पाया यह
फूल अनोखे खिल आए मेरे उपवन में।

● ● ●

८२. समय तुम्हारे हाथों में प्रभु! अन्तहीन है

समय तुम्हारे हाथों में प्रभु! अन्तहीन है,
कहीं न कोई है जो गिने क्षणों को तेरे।
बीता करते सदा रातदिन औ युग युग भी–
पुष्प सदृश खिलते हैं और पुनः मुरझाते,
तुम्हीं जानते कैसे की जाती प्रतीक्षा।

बीत रही तेरी शताब्दियाँ एक एक कर
छोटा सा बनफूल एक निर्मित करने में।

है न हमारे पास समय यों खो देने को
इसीलिए स्पर्धा में हम भागा करते है
कर सकते न विलम्ब, समय के जो दरिद्र हम।

और इस तरह होता यह कि समय जाता है,
हर शंकाकुल जन के प्रति आता जो लेने।
रिक्त अन्त तक रह जाती यों तेरी वेदी,
जिस पर निज उपहार न अर्पित कर पाता हूँ।

दिन जाता जब बीत दौड़ता मैं द्रुतगाति से,
इस डर से कि द्वार हो बन्द न जाएँ,
किन्तु सदा पाता कि अभी भी समय शेष है।

● ● ●

८३. तेरे लिए बनाऊँगा मैं कंठहार माँ

तेरे लिए बनाऊँगा मैं कंठहार माँ।
गूँथ मोतियाँ अपनी पीड़ा के आँसू की।

तारों ने पायल प्रकाश के गढ़ डाले हैं।
जो कि तुम्हारे पावों का श्रृंगार करेंगे।
मेरा हार परन्तु वक्ष पर होगा शोभित।

यश वैभव दोनों ही तो आते हैं तुमसे,
और तुम्हीं पर निर्भर, दो कि रोक लो उनको।
मेरी यह पीड़ा है किन्तु पूर्णतः मेरी।
और इसे जब लाता तुम्हें समर्पित करने
मुझे पुरस्कृत करती तुम निज कृपा दृष्टि से।

● ● ●

८४. है वियोग की व्यथा व्याप्त सम्पूर्ण भुवन में

है वियोग की व्यथा व्याप्त सम्पूर्ण भुवन में।
जो असीम नभ में अनन्त आकार बनाती।

यही वियोग–व्यथा है जो, अपलक निहारती,
रात–रात भर मौन सितारों औ तारों में।
और गीत भरती सर सर स्वर में पत्तों के,
बरसाती सावनी रात के अन्धाकार में।

चारो ओर फैलता सा यह वही दर्द है,
गहराता, जो प्यार और इच्छाएँ बनकर।
हर्ष और पीड़ा बनता मनुष्य के गृह में।
और यही विगलित होकर सदैव होता है–
प्रवहमान गीतों में मेरे कवि–मानस से।

● ● ●

५. प्रथम–प्रथम जब निकला था योद्धाओं का दल

प्रथम–प्रथम जब निकला था योद्धाओं का दल
अपने स्वामी के दरबार कक्ष से बाहर।
अपनी शक्ति छिपा रक्खी थी कहाँ उन्होंने,
रक्षा–कवच कहाँ थे उनके अस्त्र कहाँ थे।

शक्तिहीन निरुपाय दिखाई देते थे वे,
तभी लगी बाणों की वर्षा होने उन पर।
जब वे निकले स्वामी के दरबार कक्ष से।

स्वामी के दरबार कक्ष में फिर योद्धा–दल
आया लौट, छिपाया तब निज शक्ति कहाँ पर।

त्याग चुके थे अपना खड्ग शरासन–शर वे,
शान्ति भाल पर उनके अब खेलने लगी थी।
छोड़ चुके थे पीछे वे जीवन का प्रतिफल,
जिस दिन वे वापस लौटे निज स्वामी के घर।

● ● ●

८६. मृत्यु, सेविका तेरी, खड़ी द्वार पर मेरे

मृत्यु, सेविका तेरी, खड़ी द्वार पर मेरे।
अनजाने समुद्र को करके पार तुम्हारा–
आज बुलावा लाई है वह मेरे घर पर।

तममय है यह निशा और भयग्रस्त हृदय मम,
फिर भी लेकर दीप द्वार खोलूँगा अपना।
और करूँगा स्वागत उसका शीश झुका निज,
क्योंकि द्वार मम खड़ी तुम्हारी है दूती वह।

ले दृग जल, कर जोड़ करूँगा उसकी पूजा,
नमन करूँगा हृदय रत्न रखकर चरणों पर।

करके अपना लक्ष्य पूर्ण वह लौट जायगी,
छोड़ एक काली छाया मेरे प्रभात पर।
मेरे सूने घर में बच रह जायेगा बस,
मम परित्यक्त निजत्व तुम्हें अंतिम अर्पण को।

● ● ●

८७. होकर मैं अति व्यग्र ढूँढता हूँ हर कोने

होकर मैं अति व्यग्र ढूँढता हूँ हर कोने–
अपने घर में किन्तु नहीं पाता हूँ उसको।

छोटा सा घर मेरा है पर इसके बाहर
एक बार जो चीज चली जाती न लौटती।

किन्तु असीम भव्य प्रासाद तुम्हारा है प्रभु,
उसे ढूँढता पहुँच गया हूँ द्वार तुम्हारे।

तेरे साँध्य–गगन के स्वर्णिम छत्र तले मैं
खड़ा दृष्टि डालता तुम्हारे मुख पर आतुर

पहुँच गया हूँ मैं असीमता की सीमा पर
नहीं जहाँ से हो सकता कुछ भी विलुप्त है
आशा या आह्लाद न आँसू भरी मुखाकृति।

रिक्त हुए मेरे जीवन को अरे डुबो दो
उस विशाल सागर में और करो आप्लावित–
जहाँ पूर्णता प्राप्त कर चुकी हो गहराई।
एक बार अनुभूति मुझे दे दो उस खोए–
मृदुल–स्पर्श का सकल विश्व की समग्रता में।

● ● ●

८८. ध्वस्त उपेक्षित मन्दिर के हे पूज्य देवता

ध्वस्त उपेक्षित मन्दिर के हे पूज्य देवता !

टूटे वीणा के ये तार न अब करते हैं–
तेरा यशोगान और घंटी मन्दिर की,
अब न घोषणा करती पूजा के बेला की।
वायु शान्त चुपचाप तुम्हारे आस–पास है।

तेरे इस परित्यक्त बसेरे में आती है
चपल बसन्ती वायु लिए झोंका फूलों का
फूल न जो चढ़ते हैं अब तेरी पूजा में।

पूजा करने वाला तेरा भक्त पुराना–
भटका करता है अब तक लेकर आशाएँ
तेरी कृपादृष्टि की पर वंचित है अब तक।
धुधँली छाया और आग के झोंके जब मिल
आते लेकर धूल झुटपुटे में संध्या के,
थक़ा और हारा सा वह आता सदैव है
ध्वस्त उपेक्षित मन्दिर में ले भूख हृदय में।

आते हैं चुपचाप पर्व त्योहार बहुत से–
तेरे पास ध्वस्त मंदिर के पूज्य देव हे !
पूजा की रातें तमाम होती व्यतीत यों,
बिना जले दीपक के इस टूटे मंदिर में।

निर्मित की जातीं अनेक मूर्तियाँ नई हैं
निपुण कलाकारों द्वारा मक्कार कला के,

और बहा ले जाई जाती हैं अदृश्य के–
पावन धारा में उनके उपयुक्त समय पर।

केवल देव भग्न मंदिर का बच रहता है–
सतत उपेक्षा में अनपूजा मृत्युरहित यों।

● ● ●

८६. अब न करूँगा शोर न ऊँचे स्वर बोलूँगा

अब न करुँगा शोर न ऊँचे स्वर बोलूँगा
है ऐसी ही अब मेरे स्वामी की इच्छा।
धीरे–धीरे अब कानों में बात करूँगा.।
मेरे अन्तर की भाषा को वहन करेंगे–
गीत गुनगुनाऊँगा जो धीरे धीरे मैं।

लोग दौड़ते राजा के बाजार की तरफ,
क्रेता–विक्रेता सारे हैं वही उपस्थित।
मध्य दिवस बेवक्त किन्तु मैंने ली छुट्टी,
जो कि समय है सारे कामों के करने का।

तो खिलने दो फूल नये मेरे उपवन में,
यद्यपि उनके लिए नहीं उपयुक्त समय यह
और मुखर होने दो आलसमय गुंजन स्वर,
मधुमक्खियाँ कर रहीं जो मध्यान्ह समय की।

कई कई घण्टे व्यतीत मैंने कर डाले,
"अच्छा क्या है और बुरा क्या के झगड़ों में"।
पर मेरे खाली दिन के खेलों का साथी
चाह रहा मेरा मन हो आकृष्ट उसी पर।
और नहीं मालूम अचानक क्यों आया यह–
मुझे बुलावा अर्थहीन परिणाम लिए क्या।

● ● ●

९०. जिस दिन मृत्यु द्वार पर तेरे दस्तक देगी

जिस दिन मृत्यु द्वार पर तेरे दस्तक देगी,
देने को उपहार उसे क्या पास तुम्हारे,

ओह! समक्ष अतिथि के निज तब मैं रख दूँगा,
भरा हुआ अपने जीवन का पात्र लबालब।
खाली हाथों उसे नहीं जाने दूँगा मैं।

मधुर मधुर अंगूर की फसल मिली मुझे जो,
शारदीय दिवसों की और ग्रीष्म रजनी की,
और व्यस्त जीवन का सब, अर्जन या संचय,
मैं उसके समक्ष रख दूँगा अन्त दिवस में।
जिस दिन मृत्यु द्वार पर मेरे दस्तक देगी।

● ● ●

६१. निहित पूर्णता जीवन की जिसमें वह मेरी

निहित पूर्णता जीवन की जिसमें वह मेरी–
मृत्यु, अरी ओ मृत्यु! पास आ, कर कुछ बातें।

दिन प्रतिदिन मैंने है किया प्रतीक्षा तेरी
हर्ष–विषाद तुम्हारे हित झेले जीवन के।

मैं जो कुछ हूँ और पास जो कुछ मेरे है
जिस कुछ की आशा करता हूँ और प्यार मम
सब कुछ हेतु तुम्हारे ही तो चला गया है
गहन और गोपन विधि से परन्तु वह सारा।
अंतिम एक तुम्हारे दृग का दृष्टिपात बस,
मेरा जीवन हो जाएगा सदा तुम्हारा।

गूँथ गूँथ कर सुमन बनी यह वरमाला जो
है तैयार गले में पड़ जाने को वर के।
परिणय के पश्चात् वधू निज गेह त्याग कर–
जाएगी एकाकी मिलने नि्ज साजन से,
रजनी के एकान्त प्रान्त की नीरवता में।

● ● ●

६२. है मालूम मुझे कि एक दिन आयेगा जब

है मालूम मुझे कि एक दिन आयेगा जब
ओझल हो जायेगी यह धरती आँखो से।
मौन विदा ले जीवन कूच करेगा तब यह,
मेरे नयनों पर अन्तिम आवरण डालकर।

फिर भी रजनी में तारे देखते रहेंगे,
होकर जाग्रत नित्य उठेगा प्रात पूर्ववत्।
घड़ियाँ बीतेंगी उठती गिरती लहरों सी,
लिए हुए आनन्द–विषाद साथ में अपने।

जब मैं सोचा करता हूँ यह अन्त क्षणों का,
सीमा ही जाती है टूट क्षणों की सारी।
और मृत्यु के तब प्रकाश में दिखता मुझको
भुवन तुम्हारा लापरवाह लिए निज वैभव।
जहाँ निम्नतम आसन और तुच्छ जीवन भी,
बड़ा विलक्षण और विचित्र मुझे लगता है।

जिन बेकार वस्तुओं की आकांक्षाएँ थीं,
और प्राप्त थीं जो वे हो जाएँ विलीन सब,
पर अपनाने दो अब मुझको वही वस्तुएँ
ठुकराता ही रहा जिन्हें या किया उपेक्षित।

● ● ●

६३. मिला मुझे अवकाश, विदा दो मेरे भाई

मिला मुझे अवकाश, विदा दो मेरे भाई,
मेरा तुम सबको प्रणाम मैं गमनोत्सुक हूँ।

वापस देता हूँ मैं अपने घर की कुंजी,
देता हूँ अधिकार त्याग सारा इस घर का।
तुमसे बस दो शब्द दयार्द्र चाहता अन्तिम।

दीर्घकाल से रहे पड़ोसी हम सदैव पर
मै जितना दे सका अधिक उससे पाया हूँ।
अब प्रभात आया है और बुझा वह दीपक
जिससे था प्रदीप्त तममय कोना मम गृह का।
एक बुलावा आया और हुआ मैं उद्यत,
अपनी यात्रा पर आगे अब चल देने को।

● ● ●

६४. मित्रो मेरे! आज विदा की इस बेला में

मित्रो मेरे! आज विदा की इस बेला में,
तुम केवल अपनी मंगल कामना मुझे दो।
गगन प्रात से धुला पथ हुआ मेरा सुन्दर।

मुझसे मत पूछो, कि पास में है मेरे क्या,
अपने साथ वहाँ जो लेकर मैं जाऊँगा।
करता हूँ प्रारम्भ यात्रा खाली हाथों
किन्तु हृदय में मेरे आशाएँ पलती हैं।

मैं विवाह की अपनी वरमाला पहनूँगा,
केसरिया बाना न पथिक का रुचता मुझको
और बहुत से खतरे है यद्यपि राहों में,
मन में मेरे अब न रह गया है कोई डर,

जब मेरी सागर–यात्रा यह पूरी होगी
सान्ध्य सितारा आसमान में चमक उठेगा।
और गीत दर्दीले गोधूली की लय में,
फूट पड़ेगे दरवाजे से राजमहल के।

● ● ●

६५. मुझे नहीं मालूम कि मैंने पार किया कब

मुझे नहीं मालूम कि मैंने पार किया कब
सर्वप्रथम इस जीवन के देहरी द्वार को।

कौन शक्ति थी जिसने मुझे किया यों विकसित
इस विशाल जग के रहस्य में उसी भाँति ज्यों,
बन के बीच कली खिलती है अर्द्धनिशा में।

जब प्रभात में मैंने देखा था प्रकाश को,
क्षण भर में ऐसी अनुभूति हुई तब मुझको
कि मैं न कोई हूँ अजनबी व्यक्ति इस जग में।
और अनाम, अरूप शक्ति कोई जो मुझको,
लिए अंक में है निज बनकर मेरी माता।

उसी प्रकार मृत्यु में भी अज्ञात शक्ति वह
मिल जायेगी मुझको बनकर चिर परिचित सी।
और चूँकि मुझको प्यारा लगता यह जीवन,
जान रहा हूँ मरण भी लगेगा प्रिय मुझको।

शिशु करता है क्रन्दन माता जब करती है,
विलग उसे दाहिने पयोधर से क्षण भर को,
करने को संतुष्ट और भी वाम भाग से।

• • •

६६. जब मैं लूँगा विदा यहाँ से तब यह निकले

जब मैं लूँगा विदा यहाँ से तब यह निकले—
मुँह से मेरे शब्द कि मैंने जो देखा है
वह सब बड़ा विलक्षण और अभूतपूर्व है।

मधु का पाया स्वाद छिपा था जो सरोज में,
वह सरोज जो फैला है आलोक सिन्धु पर।
हुआ धन्य मैं रहे यही मम अन्तिम वाणी।

इस अनन्त आकृतियों वाले क्रीड़ास्थल में,
मेरा खेल हो गया पूरा और यहीं मैं—
पाया दर्शन उसका जो आकारहीन है।

अंग अंग मेरे एवं पूरा शरीर यह,
हुआ प्रफुल्लित उसको छू जो स्पृश्य नहीं है।
और यहाँ यदि अन्त आ रहा हो तो आए,
यही रहे केवल मेरा उद्‌गार विदा का।

● ● ●

६७. तेरे साथ हो रही थी जब मेरी क्रीड़ा

तेरे साथ हो रही थी जब मेरी क्रीड़ा,
मैंने प्रश्न किया था कभी न, कौन हो कि तुम।
शर्म न भय था मुझे उग्र मेरा जीवन था।

बड़े सबेरे जगा नींद से निज साथी सा,
दौड़ाते थे मुझे राह पर बन बन के तुम।

मैंने किया प्रयत्न नहीं उन दिनों कि जानूँ,
अर्थ गीत के जो कि सुनाते थे तुम मुझको।
केवल लय सुर ग्रहण किया मेरी वाणी ने,
और हृदय नर्तन आरोहण–अवरोहण पर।

अब जब हुआ समाप्त खेल का समय दृश्य यह
कैसा सब परिवर्तित हुआ अचानक मुझ पर।
अखिल भुवन तेरे चरणों पर नयन झुकाए
भयाक्रान्त है खड़ा लिए निज मौन सितारे।

● ● ●

९८. पुष्पहार, विजयोपहार से कर दूँगा मैं

पुष्पहार, विजयोपहार से कर दूँगा मैं–
तुम्हें सुसज्जित अपने पराजयों का लेकर।
मेरे पास न शक्ति कि भाग सकूँ मैं अविजित।

मै निश्चित जानता कि होगा चूर गर्व मम,
जीवन बाँध तोड़ बह निकलेगा पीड़ा में।
और हृदय मेरा खाली सिसकियाँ भरेगा
स्वर पाकर जैसे कि खोखले सरकंडे का
पिघल पिघल कर पत्थर आँसू बन जाएगा।

मैं निश्चित जानता कमल की सौ पंखुड़ियाँ,
बन्द सदा के लिए कभी रह नहीं सकेंगी।
और गुप्त मधुकोष अनावृत होगा निश्चित।

नीले नभ से एक नयन मेरे ऊपर ही
टिका रहेगा मौन बुलावा भेज रहा सा।
मेरे लिए नहीं कुछ भी बच रह पाएगा,
बिल्कुल कुछ भी नहीं और मैं घोर मरण ही,
प्राप्त करूँगा रहकर तेरे उन चरणों पर।

● ● ●

६६. मुझे ज्ञात है छोडूँगा पतवार जिस समय

मुझे ज्ञात है छोडूँगा पतवार जिस समय,
थामोगे तुम उसे समझकर उचित समय वह।
स्वतः पूर्ण होगा जो करना होगा उस क्षण,
इस कारण संघर्ष निरर्थक है सारा यह।

तब फिर ओ मम हृदय! हाथ अपना तुम खींचो,
और करो चुपचाप पराजय अपनी स्वीकृत।
और मान लो अपना यह सौभाग्य कि तुम हो–
बैठे भली प्रकार, लगाए जहाँ गए हो।

बार बार मेरे ये दीपक बुझ जाते हैं
हल्का सा भी झोंका खाकर वायुवेग का।
और पुनः उनको प्रदीप्त करते करते मैं,
बार बार भूलता दूसरे काम और सब।

किन्तु करूँगा अब प्रतीक्षा अन्धाकार में,
रह सतर्क फैला अपनी चादर जमीन पर।
और जब कभी हो तेरी इच्छा, मेरे प्रभु।
आ जाओ चुपचाप यहाँ औ, लो निज आसन।

● ● ●

१००. डूब रूप सागर में यह आशा करता हूँ

डूब रूप सागर में यह आशा करता हूँ,
मैं अमूल्य मोती अरूप का पा जाऊँगा।

घाट घाट अब नहीं ले चलूँगा मैं नौका,
ऋतुओं के प्रहार से जो अब जीर्ण हो चुकी।
मेरे दिन पहले ही बीत गए सारे वे,
जब था मेरा खेल उछलना ही लहरों पर।

मरणहीन अब मृत्यु के लिए मैं आतुर हूँ।

सभागार में उस अथाह पाताल–लोक के,
जहाँ फैल संगीत रहा लयरहित तार पर,
मैं ले जाऊँगा अपने जीवन की वीणा।

मैं अनन्त के लय में इसका स्वर साधूँगा,
और सिसकियाँ ले जब अन्तिम स्वर निकलेगा,
शान्त हुई अपनी वीणा को धर दूँगा मैं,
चरणों पर उसके जो नित्य सदैव शान्त है।

● ● ●

१०१. तुम्हें खोजता रहा सदा मैं निज जीवन में

तुम्हें खोजता रहा सदा मैं निज जीवन में,
अपने गीतों से जो दर दर मुझे ले गए।
और उन्हीं के द्वारा अपने भी बारे में
जान सका मैं खोज खोज छू–छू निज जग को।

गीतों ने ही तो मेरे वह पढ़ा दिया है–
सारा मुझको पाठ पढ़ सका जो कुछ भी मैं।
राह दिखाया गुप्त और कर दिया उजागर,
कितने ही तारों को मेरे हृदय–गगन पर।

पूरे दिवस दिशा–निर्देश मिला उनसे है,
पाने को रहस्य सब सुख–दुख के प्रदेश का।
किन्तु अन्त में सन्ध्या को यात्रा समाप्ति पर,
लाए ये मुझको दर पर किस राजमहल के।

● ● ●

१०२. लोगों में मैं डींग मारता रहा सदा यह

लोगों में मैं डींग मारता रहा सदा यह,
कि मैं तुम्हें हूँ जान गया, इसलिए लोग सब,
चित्र देखते हैं तेरा मेरी कृतियों में।

आकर मेरे पास पूछते हैं मुझसे वे,
'वह है कौन', किन्तु क्या उत्तर दूँ न जानता।
मैं कहता हूँ 'निश्चित मैं न बता सकता हूँ।'
फिर वे दोषी मान मुझे जाते ठुकराकर।
और वहाँ तुम बैठ मुस्कराते रहते हो।

कथा तुम्हारी कहता मैं स्थायी गीतों में,
खुल जाता है गुप्त रहस्य हृदय से मेरे।

वे आ कर पूछते कि 'अपना अर्थ बताओ।'
मैं न जानता किस प्रकार उनको उत्तर दूँ।
मैं कहता हूँ कौन जानता अर्थ, कि क्या है।
तीव्र घृणा से चलते वे तब मुँह बिचकाकर।
और वहाँ तुम बैठ मुस्कराते रहते हो।

● ● ●

१०३. करते हुए नमन तुमको हे मेरे ईश्वर

करते हुए नमन तुमको हे मेरे ईश्वर,
मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ फैल विस्तृत हो जाएँ,
और इस जग का करें स्पर्श तेरे चरणों पर।

सावन के जल भरे जलद सा नीचे आकर,
लेकर वर्षा के फुहार का भार अंक में।
मेरा मन–मस्तिष्क नमित हो द्वार तुम्हारे,
मेरी एक वन्दना में अर्पित जो तुमको।

मेरे सारे गीत विभिन्न लिए अपने स्वर,
मिलें और हों प्रवहमान बन जलधारा सी,
एक शान्ति के सागर में विलीन होने को,
मेरी एक वन्दना में अर्पित जो तुमको।

गमनातुर गृह ओर कणाँकुल विहग–बृन्द सा,
रात–दिवस उड़ते उड़ते निज शैल–नीड़ को,
मेरे जीवन की सागर–यात्रा पूरी हो–
अपने घर में जो अनादि एवं अनन्त है,
मेरी एक वन्दना में अर्पित जो तुमको।

● ● ●

कवि–परिचय

नाम	–	***शारदा प्रसाद मिश्र***
जन्म	–	३ नवम्बर १६३३ को ग्राम विहार पोस्ट–रमवापुर, तहसील–खलीलाबाद, जिला बस्ती (उ. प्र.)
शिक्षा	–	१– सन् १६५० में गवर्नमेंट हाई स्कूल बस्ती से मैट्रिक–प्रथम श्रेणी में। २.– सन् १६५४ में लखनऊ विश्वविद्यालय से बी.एस.सी.। ३– सन् १६६० में इन्स्टीट्यूशन ऑफ इंजीनियर्स कलकत्ता से ए. एम. आई. ई. (इंजीनियरिंग में स्नातक) परीक्षा उत्तीर्ण।
व्यवसाय	–	सन् १६५४ से सन् १६६१ तक भारतीय डाकतार और दूर संचार विभाग में सेवारत और उप महा प्रबंधक दूर संचार पद से १६६१ में सेवा निवृत्त।
अभिरुचि	–	सेवाकाल में हर कार्य को पूर्ण निष्ठा और लगनसे करने के साथ–साथ साहित्यिक अभिरुचि प्रारम्भिक विद्यार्थी जीवन से अब तक बनी रही। समय–समय पर विचारों और भावनाओं का पत्र–पत्रिकाओं और आकाशवाणी के माध्यम से प्रकाशन और प्रसारण।

साहित्यिक कार्य	–	१. रवीन्द्र नाथ ठाकुर की गीतांजलि (अंग्रेजी) का काव्यानुवाद (हिन्दी अतुकान्त छन्दों में) २. श्री मद् भगवद् गीता का तुकान्त छन्दों में हिन्दी काव्यानुवाद। (प्रकाशनाधीन)
प्रकाशन	–	समर्पण एवं श्रृंखला काव्य–संकलनों के अतिरिक्त कई पत्र–पत्रिकाओं में रचनायें प्रकाशित।
सम्मान	–	१– कजरा इन्टरनेशनल फिल्म्स समिति, गोण्डा (उ. प्र.) द्वारा 'कला श्री' सम्मान। २– शिक्षा साहित्य कला विकास समिति बहराइच (उ. प्र.) द्वारा 'साहित्य श्री'। ३– काव्यधारा, रामपुर (उ. प्र.) द्वारा 'सारस्वत' सम्मान।
सम्पर्क	–	सी–४३२, राजीजी पुरम, लखनऊ – २२६ ०१७, एवं १७, आवास विकास कोलानी बेतिया हाता (उत्तरी) गारेखपुर –२७३ ००१
फोन	–	लखनऊ ४१८ ६०२, एवं गोरखपुर, ३३६ २२२

हाँ, यह है मालूम मुझे हे प्रियतम मेरे–
और नहीं कुछ बस यह केवल [illegible] तुम्हारा।
स्वर्ण रश्मियाँ नाच रहीं [illegible] पर,
मेघ निठल्ले उड़ते जाते पार [illegible] के,
मन्द वायु कर स्पर्श देह शीतल [illegible] है।
निर्झर सा आलोक झर रहा है, [illegible] का,
तैर–तैर जाते जिसमें ये मेरे लोचन,
मेरा हृदय तुम्हारा यों संदेश पा रहा।
तेरा मुख मंडल ऊपर से झांक रहा है,
टिके नयन तेरे नीचे मेरे [illegible] पर,
और हृदय ने मेरे छुआ [illegible] है।

कहना न होगा कि मूल रचना की कल्पना भूमि से पूर्ण तादात्म्य [illegible] के कारण ही श्री मिश्र जी के अनुवाद में जीवन्तता, सहजता, गतिमयता और सरसता [illegible] सन्निवेश हो सका है। मैं श्री शारदा प्रसाद मिश्र को उनके सफल प्रयास के लिए साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में इसी स्तर की अन्य कृतियों के माध्यम से वे हिन्दी काव्य जगत को समृद्ध करते रहेंगे।

प्रो. रामचन्द्र तिवारी
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी–विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर